साक्षात्कार से अन्तिम सत्य तक

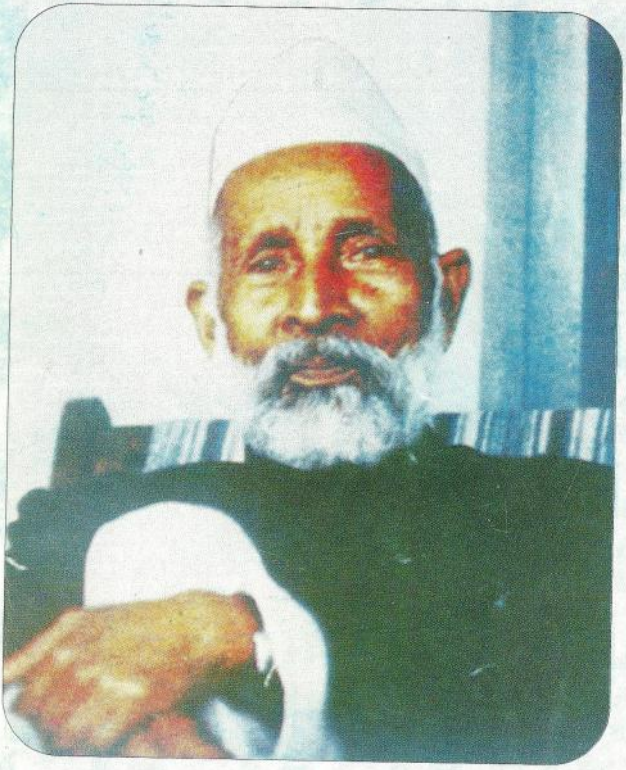

कस्तूरी बहिन

साक्षात्कार से अंतिम सत्य तक

कस्तूरी चतुर्वेदी

संस्करण : जुलाई, 2005
500 प्रतियाँ

मूल्य : Rs.

प्रकाशक : श्री जी. डी. चतुर्वेदी
सी. 830 - ए, 'पारिजात'
एच. रोड, महानगर,
लखनऊ (उ.प्र.)

© सर्वाधिकार सुरक्षित

मुद्रक : एन्टेक्स प्रिंटर्स
10-ए, बटलर रोड, डालीबाग,
लखनऊ (उ.प्र.)
दूरभाष : 0522 - 2205070, 2207920
फैक्स : 0522 - 2205070

दो शब्द

सृष्टि की रचना के साथ ही ईश्वरीय वरदान के रूप में मिली मानव में बुद्धि और मिला एक संवेदनशील मन, मन को मिली अनुभूति की अभिव्यक्ति की क्षमता। सृष्टि के आरम्भ में अन्तर में दैविक-प्रकाश के आधिक्य तथा पवित्र वातावरण की निर्मलता के फलस्वरूप मानव-मन अपने रचयिता की खोज में निरन्तर व्यग्र रहता था, इसीलिए अनेकानेक ऋषियों-मुनियों के उदाहरण हमारे सामने हैं किन्तु यदि ध्यान से देखें तो यह स्पष्ट हो उठेगा कि उनकी आध्यात्मिक साधना नितान्त वैयक्तिक और स्वान्तः सुखाय थी। अपने किसी परम प्रिय शिष्य पर प्रसन्न होकर वे उसे स्वतः अर्जित आध्यात्मिक लोक या स्थिति प्रदान तो कर सकते थे किन्तु अपनी दैविक अनुभूतियों का वर्णन उनकी कल्पना से परे था। एक प्रकार से उनके लिए यह 'गूँगे का गुड़' ही था।

समय के ढलते-ढलते वातावरण की पावन निर्मलता खोती चली गई और मानव हृदय भौतिक-आवरणों से ढकता चला गया और आज वर्तमान युग तक आते-आते, जीवन के संघर्षों से जूझते-जूझते, अपने ही बुने भौतिकता के जाल में फँसा मानव कराह उठा, छटपटा उठा और दीनता और विषाद भरे नेत्रों से इधर उधर निहारने लगा। तब पृथ्वी पर अवतरण हुआ अनुपमेय दिव्य-विभूति समर्थ सद्गुरु श्री रामचन्द्र जी महाराज, शाहजहाँपुर निवासी का। इस दिव्य-विभूति का अटल संकल्प था- अपनी अविचल इच्छा-शक्ति द्वारा मानव-मात्र को दुखों के जंजाल से उबार, सहज मार्ग पद्धति

द्वारा उसे आध्यात्मिक प्रगति की राह दिखा ''वतन'' तक पहुँचाना। उनकी अमोघ इच्छा शक्ति और दिव्य प्राणाहुति पाकर अभ्यासी एक नई साधना में पलकर भौतिक सुख दुखों के बन्धन से मुक्त होकर अपने ''वतन'' तक पहुँचने का सफल प्रयत्न करने लगा।

हमारे सद्गुरु श्री बाबूजी ने अनेकानेक रत्न गढ़े किन्तु उनमें उज्जवल और अनुपम रत्न हैं संत कुमारी कस्तूरी चतुर्वेदी जिनको समस्त अभ्यासी-गण परम स्नेह से 'बहिन जी' कहकर पुकारते ही नहीं, वरन् ऐसा मानते भी हैं। इन्हीं बहिन जी द्वारा लिखित प्रस्तुत पुस्तक ''साक्षात्कार से अन्तिम सत्य तक'' आज हमारे समक्ष है। श्री बाबूजी महाराज इन अनन्य-साथिका को परम स्नेह से अध्यात्म के शिखर तक ही नहीं ले गये वरन् उन्होंने बहिन जी को उन आध्यात्मिक दशाओं को अभिव्यक्त करने की क्षमता भी प्रदान की, अन्यथा प्रायः ही वहाँ पहुँच कर तो 'गिरा बिनु नयन, नयन बिनु वाणी' कथन ही चरितार्थ होता है।

सच तो यह है कि ''सहज-गति'' तक का वर्णन तो अधिकांश प्राचीन आध्यात्मिक ग्रन्थों में पढ़ने को मिल जाता है किन्तु उससे आगे की दशाओं का सौन्दर्य तो नितांत अछूता ही रह गया है। साक्षात्कार तक पहुँचते-पहुँचते ही मन अपने इष्ट की छवि में ऐसा रम जाता है कि कुछ भी कहने-सुनने की सुध-बुध ही नहीं रहती। किन्तु बहिन जी द्वारा रचित इस पुस्तक में मन की उन सूक्ष्म दशाओं का ऐसा विस्तृत तथा स्पष्ट वर्णन है कि उस दशा को न पहुँचे होने पर भी अन्य अभ्यासियों के नेत्रों के समक्ष उन अद्भुत दशाओं का चित्र साकार हो उठता है।

लेखिका की समर्थ लेखनी ने सद्‌गुरु के नेह भरे आँचल की छाँव की आवश्यकता तथा ''उनकी'' गरिमामयी महिमा के साथ ही ''आत्मिक विकास'' के सोपानों का विशद, ओजस्वी विवरण प्रस्तुत किया है जो अपने आप में ही एक परम उपलब्धि है। उन्होंने ''सहज-मार्ग'' की एक अनोखी विशेषता की ओर भी संकेत किया है कि इस मार्ग पर सच्चाई से चलने वाले अभ्यासी की जिम्मेदारी केवल मात्र ईश्वर के ध्यान और सतत्-स्मरण में अपने को डुबोये रखने में ही समाप्त हो जाती है। इसके आगे, लक्ष्य तक पहुँचाने का तथा अभ्यासी की आध्यात्मिक प्रगति का भार सद्‌गुरु ने परम अनुकम्पा कर, ममता के जल से सींच, प्राणाहुति से सशक्त कर स्वयं अपने काँधों पर उठा लिया है। 'आत्मिक विकास' में अनेक रहस्यों का उद्‌घाटन हुआ है। उदाहरण स्वरूप अवतारों के उद्‌गम और रंग-रूप का विवरण, गति और अवस्था के भेद, आदि। केन्द्र मंडल के तेजोपुंज सात वृत्तों का वैभव, विभिन्न पदों की कार्य-मर्यादा तथा महत्ता और 'भूमा' के दिव्य ऐश्वर्य का वर्णन कहीं भी देखने-सुनने को नहीं मिलता। वैभवहीन 'भूमा' का वैभवशाली एवं मनोरम विवरण कोई दैविक-शक्ति ही अंतर में बैठकर लिखवा सकती है। अन्यथा यह तो वह स्थान है जहाँ पहुँचकर 'उसके' ही तेज पुंज से आप्लावित हो वाणी मूक और मन स्तब्ध हो उठता है। जब मिलन की उस बेला में आत्मा ही सुध-बुध खो बैठी, प्राण ही जब 'उस' पर न्योछावर हो चुके तो कौन कहे और कौन सुने।

अंत में मुझे यही आशा है कि जो अभ्यासी केवल मात्र भौतिक

उपलब्धियों हेतु ही 'सहज मार्ग' को अपनाते हैं, इस पुस्तक के अवलोकन से शत-प्रतिशत वे भी 'भूमा' के अतुलनीय दिव्य आकर्षण से प्रेरित हो लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आकुल हो उठेंगे।

सद्गुरु श्री बाबूजी के चरणों में यही विनती है कि लेखिका भविष्य में और भी ऐसी ही दुर्लभ तथा अनूठी कृतियों से मिशन का कोष भरती रहें जिससे हम अभ्यासियों तथा अन्य सभी जनों के आध्यात्मिक विकास में नित्य नया निखार आता रहे और एक दिन हम सब स्वयं उन अनुभवों का परमानन्द प्राप्त कर सकें। आनेवाली कोई भी पीढ़ी हमारी भांति यह उपालम्भ न दे सके कि ईश्वर-प्राप्ति के लक्ष्य के दीवाने 'अंतिम-सत्य' तक पहुँचने का परमानन्द स्वयं तो अनुभव कर सके थे किन्तु उसका विवरण अपने उत्तराधिकारियों के लिए लिख कर नहीं छोड़ सके थे।

श्रीमती विमला सिंह
अभ्यासी

अवध कोल्ड स्टोरेज
लखनऊ

विषय-सूची

क्र.सं.	विषय	पृष्ठ सं.
1.	समर्पण	1
2.	साक्षात्कार	3
3.	सद्‌गुरु	25
4.	आत्मिक विकास	45
5.	सहज गति	61
6.	अंतिम–सत्य	88
7.	उपसंहार	108

समर्पण

जिनके दिव्य-शुभागमन को धरती ने अपने आँचल में सहेज लिया था, जिनकी दृष्टि भक्ति का सृजन कर गयी, आकाश जिनके शीश को छूकर ईश्वरीय ज्ञान से गर्वित हो उठा था। जिनके दिव्य-प्रेम एवं प्राणाहुति का प्रवाह पाकर आज मानव-जीवन कृतकृत्य हो उठे हैं, उनके दर्शन के लिए जो सिर झुकाया तो दिव्य-दृष्टि रहनी को भी अन्तर में समेट ले गयी। जब मुखारबिन्दु का दर्शन पाने को दृष्टि उठाई तो सहज ही दृष्टि सूक्ष्म हो गयी और उनके सर्वव्यापी-रूप में लय हो गई। वास्तविक-साक्षात्कार पाना चाहा तो अन्तिम सत्य (ultimate reality) की चौखट पा गयी।

आज उनकी इच्छा के परिणाम स्वरूप, उनके ही द्वारा उतारी हुई दिव्य-गतियों की रिसर्च अथवा शोध का किंचित विवरण लिये हुये, समय-समय के 'उनके' कथन के स्पष्टीकरण सहित, यह पुस्तक "साक्षात्कार से अन्तिम सत्य तक" श्री बाबूजी के ही पावन चरणों में समर्पित है।

कस्तूरी बहिन

साक्षात्कार

ईश्वर का साक्षात्कार करना मानव जीवन की परम आवश्यकता है। यह स्वीकृत एवं सत्य तथ्य है कि भौतिक शरीर के द्वारा, जब तक सूक्ष्म से भी सूक्ष्म ईश्वर का साक्षात्कार नहीं हो जाता है, तब तक इसे बार-बार बनना और मिटना होता है। वास्तविकता तो यही है कि यदि इसके द्वारा बार-बार आवागमन के कारण को समाप्त करके, अनन्त आनन्द में प्रवेश न पाया तो जीवन मिट्टी के एक घरौंदे के समान ही रह जाता है, जो बार-बार बनता और बिगड़ता है। मिट्टी (शरीर) को किस तरह से उपयोगी बनाएँ, यह हमारे बनाने वाले अर्थात् समर्थ सद्गुरु के ऊपर ही निर्भर करता है। वर्तमान जीवन में रंग-रूप, सुख-दुख, छोटा-बड़ा, ऊँच-नीच होना तो पूर्व संस्कारों पर निर्भर करता है, परन्तु इसे श्रेष्ठ उपयोग में लाकर जीवन को धन्य बना लें, यह मानव के ऊपर निर्भर करता है। श्रेष्ठ सूफी भक्त कवि जायसी ने एक बार अपनी कुरूपता पर हँसने वालों से कहा था कि "मुझ पर क्यों हँसते हो, मुझे बनाने वाले कुम्हार पर हँसो।" इसका श्रेष्ठ उपयोग केवल एक ही हो सकता है कि हम उस रचयिता कुम्हार के स्मरण में सतत ही लीन रहते हुए, उसके ही पावन, एवं दिव्य-सौंदर्य से इस जीवन को सजा लें। इसके द्वारा परम-सूक्ष्म-ईश्वर का साक्षात्कार कर लें, तभी आवागमन समाप्त होकर, इसके निर्माण और विनाश के चक्कर से हमें सदैव के लिए छुटकारा मिल सकेगा। अपने को उस वास्तविक सौंदर्य अर्थात् रचयिता के ध्यान में इस तरह से डुबाये रखने का प्रयत्न करें, कि

हम अपने वर्तमान स्वरूप को भी भूल जाएँ। स्वभाव, आचरण एवं बाह्य-व्यवहारों में भी उसे इस प्रकार उतार लें, कि लोग यह परख सकें कि मानव का वास्तविक रूप एवं सौंदर्य क्या है। श्री बाबूजी महाराज का कथन है कि अन्तर के वास्तविक-सौंदर्य का दर्शन करना ही स्वयं जीव का दर्शन है।

इस प्रकार सर्वप्रथम लक्ष्य-प्राप्ति के विचार का, दृढ़तापूर्वक ध्यान द्वारा ईश्वरीय-दिव्य-प्रकाश से योग बनाए रखने का अभ्यास करें। साथ में निरन्तर श्री बाबूजी महाराज द्वारा पाई हुई यौगिक प्राणशक्ति का अवलम्बन साक्षात्कार की दिशा में सफलता देने वाला होता है। वह दिव्य-ईश्वरीय-शक्ति जीव में ईश्वर-दर्शन की चाह जाग्रत कर पाने में पूर्ण समर्थ होती है। सदगुरू श्री बाबूजी की निगाह में सदैव पलते रहना ही साक्षात्कार की दिशा मे आध्यात्मिक-पथ पर सहजता से बढ़ते रहने के लिए बहुत ही आवश्यक है। उनकी दृष्टि एवं इच्छा-शक्ति हमें साक्षात्कार के पथ पर निरन्तर अग्रसर रखने के लिए तथा आध्यात्मिक दशा में डुबोये रखने में सहायक होती है। इससे एक मुख्य बात तय यह हो जाती है कि सद्गुरु से ऐसा सुदृढ़ आन्तरिक-सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, जो ईश्वर से जीव के वास्तविक सम्बन्ध की याद को उभार लाता है, और हमें उसका साक्षात्कार कर पाने के लिए बेचैन कर देता है। फिर मिलन की तड़प अपना मार्ग स्वयं टटोल लेती है और आध्यात्मिक-पथ पर हमारी गति तीव्र होती चली जाती है। इतना ही नहीं उनके प्रतिबिम्ब के निरन्तर सम्बन्ध से अन्तर पुलक उठता है, और उनमें ही डूबे अर्थात् लय हुए, एक दिन मानव को ईश्वर का

साक्षात्कार सुलभ हो जाता है। हमें अपने वास्तविक स्वरूप का परिचय देकर, साक्षात्कार की दशा में नूर भर देने वाला एक मात्र केवल सद्गुरु ही हो सकता है।

सत्य तो यह है कि यह छोटे से घरौंदे (शरीर) को अपना वास्तविक स्वरूप मान कर भूले हुए हम मानवों को उसका ज्ञान भी कौन कराता, जबकि सभी तो एक ही भँवर में भूले, एक सी ही दशा मे फिर रहे थे। किसी ने बहुत दिया तो उपदेश दे दिया, कुछ इससे आगे बढ़े तो उन्होंने कोई ग्रंथ हाथ में पकड़ा दिया, किसी ने कुछ और आगे झाँका, तो सुमिरनी का सहारा दे दिया और बतला दिया कि इससे ज्ञान हो जाएगा। आज हमें वास्तविकता से दूर हुए इतना समय हो चुका है कि यह समझ ही नहीं रही कि क्या इनमें से कोई भी साधन ऐसा है, जो अन्तर को इस सीमा तक सँवार कर, निखार कर ले आए कि हमारे अंदर ईश्वर का साक्षात्कार पाने की पावन-इच्छा जाग्रत हो जाए। सच पूछिए तो साधना का परमानन्द सद्गुरु के संगम द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। सद्गुरु का संग अंतर में पकड़े रहने से मानव-मूर्ति, जो सच ही अब तक मूर्तिवत् ठोस हो चुकी है की स्थूलता में टिघलाव उत्पन्न होने लगता है। मन, बुद्धि, चित्त सभी पर स्थूलता का जो आवरण पड़ा हुआ था, उनकी इच्छा-शक्ति द्वारा अंतर में ईश्वरीय-धारा का प्रवाह पाने से, झीना पड़ने लगता है। अन्तर में निरन्तर ही हल्केपन का अनुभव भी यह संकेत देता है कि सूक्ष्मता की ओर हमारा विकास हो रहा है। अंतर का अंधकार दूर होकर वह सतत् दिव्य-ज्योति से ज्योतिर्मय होता जाता है, और सहज एवं अलौकिक

सन्तोष के साथ अंतर में ईश्वर के साक्षात्कार की चाह शीघ्र पूरी होने के लिए बलवती हो जाती है। इतना ही नहीं, संकुचितपन की ग्रंथियाँ टूटकर बिखरना प्रारम्भ हो जाती हैं, और एक अनजाना अंतर-फैलाव अनुभव में आने लगता है। हमें इसका भी अनुभव होता है कि यह फैलाव धारा-प्रवाह की भाँति बाँध तोड़ता हुआ, मानों हमें असल तत्त्व की ओर उन्मुख कर रहा है। ईश्वरीय धारा का यह प्रवाह इस ओर भी इंगित करता है कि हम अब इस घरौंदें में बन्द, किसी नाम से विभूषित, किसी रूप में सीमित केवल मानव नहीं हैं, बल्कि हमारा वास्तविक-अस्तित्व असीम से सम्बन्धित, दिव्यानंद से विभूषित, दिव्य-प्रकाश से प्रकाशित है। सर्वप्रथम इसका आभास कि हमारा स्वरूप असीमित का ही एक अंश है उस समय मिल पाता है, जब कि सहज-मार्ग साधना में श्री बाबूजी महाराज की पावन-प्राण-शक्ति का पवाह हृदय में अनुभव करते हुए, एक दिन ऐसी आध्यात्मिक-गति की प्रत्यक्षता हम अपने में पाते हैं, कि इस शरीर में से जीवित ही निकल कर हमारी गति उस असीम की विराट व्यापकता में फैलने लगती है। तभी से नाम, जिससे इस शरीर को अब तक सम्बोधित किया जाता रहा है, के भीतर-बाहर हमें ईश्वरीय-सामीप्यता का आभास मिलने लगता है। यही कारण है कि जब हम स्वयं के अंदर उस असीमित की मौजूदगी का आभास पाते हैं तो हर घर में, अर्थात् समस्त में हमें 'उसकी' ही छवि का आभास मिलने लगता है एवं इस ईश्वरीय दिव्य गुण का कि वह घट-घट वासी है, साक्षात्कार भी तब हमें सहज ही मिलने लगता है। एक बात यहाँ पर कहना परमावश्यक

है कि इस गति को भी पाने का अभ्यास जो लोग करते हैं (यानी सब में ईश्वर को देखने का), उनको साक्षात्कार की सत्य-गति को पाने का सौभाग्य कभी नहीं मिल पाता है। क्योंकि वह सौभाग्य तो बदलती हुई मनःस्थितियों द्वारा, आध्यात्मिक-उन्नति के वास्तविक स्तर पर पहुँचे योगी को ही प्राप्त होता है। इस हालत में अनुभव द्वारा यह प्रत्यक्ष हो जाता है। कि प्रथम तो घट-घट में ईश्वर का दर्शन प्राप्त होता है फिर उसके घट-घट वासी होने का सत्य साधक पर प्रकाशित हो जाता है। उसके पश्चात् घट का बंधन भी समाप्त हो जाता है और सर्वव्यापी हालत में अभ्यासी का फैलाव हो जाता है। एक भेद और खुल जाता है कि पहले जो भी आध्यात्मिक हालात उभरती है उसका अनुभव साधक पहले स्वयं के अंदर करता है, और वह लिखता है कि "मेरी यह हालत है।" परन्तु जब हम सर्वव्यापकता की दशा में प्रवेश पा जाते हैं तब श्री बाबूजी महाराज को इस तरह लिखते हैं कि "हमें यह पता नहीं लगता है कि हम अपनी हालत लिखते हैं, या ईश्वर की हालत को बताते हैं।" इसके पश्चात् यह भी लिखते हैं कि "हम आपको हालत लिख रहे हैं या हालत की हालत लिख रहे हैं यह सब आप जानते हैं।"

साक्षात्कार की परिभाषा अनुभव की भाषा में यही हो सकती है, कि जहाँ वजह (हम) एवं जिसकी वजह से हालत की अनुभूति थी अर्थात् सद्गुरु श्री बाबूजी में लय-अवस्था की वजह से, अब वह कुछ भी नहीं रह जाता है। ऐसी अवस्था में प्रवेश पाने पर मात्र साक्षात्कार की अवस्था को ही कुल में समाया हुआ पाने लगते हैं।

आध्यात्मिक-क्षेत्र में जिस अवस्था तक अपनी हालत का अनुभव एवं आभास मिलता रहता है, वहाँ तक हालत के आभास की जागरुकता के भोग स्वरूप, उस स्तर के ज्ञान की हालत का सामवेश भी अपने में मिलता है। फिर उससे भी सूक्ष्म हालत के अन्दाज में खोए हुए हम अपने को नितान्त अज्ञानी एवं अबोध, भोले बालक की तरह से पाने लगते हैं। जब तक हमें अन्तर में कुछ पाने का अनुभव होता है उसे आध्यात्मिक-भाषा में 'कुछ खोना' कहा जाता है, और खोना क्या अहं की टिघलन, एवं अस्तित्व के मिटने का अन्दाज़, ईश्वर के साक्षात्कार की दशा को स्वयं में समाने की राह देता है। इस दशा को, अभ्यासी का 'मालिक' के समक्ष स्वयं का खुल जाना ही समझना चाहिए क्योंकि अनुभव यही बताता है और 'भक्ति' की परिभाषा भी मैंने यही पाई है कि प्रिय के समक्ष स्वयं को खोले बिना हम वास्तविकता को प्राप्त नहीं कर सकते हैं। 'वह' बन्धन से परे है, इसलिए जैसे-जैसे हम उसके दिव्य-दर्शन पाने की दिशा में बढ़ते हैं अन्तर के आवरण हटते ही चले जाते हैं एवं ग्रन्थियाँ खुलती चली जाती हैं। वास्तविकता स्वयं ही मानो हमारे समक्ष फैली हुई मिलती जाती है। वास्तव में यह ईश्वर की ही महत् कृपा होती है कि तब 'वह' स्वयं को हमारे समक्ष खोलना (दर्शन देना) प्रारम्भ कर देता है, और हम साक्षात्कार की हर दशा में समाये हुए, 'उसकी' व्यापकता में भी व्यापक होते जाते हैं। तब उस परमानन्द को भी स्वयं में सम्पूर्ण भर कर भोग नहीं पाते हैं, क्योंकि उसे भरने के लिए श्री बाबूजी को हमारे शरीर की सीमित क्षमता की ओर देखना पड़ता है। हमारे अन्तर और

बाह्य दोनों की समान गति हो जाती है। जैसे कमल का पत्ता जल में डूबे रहने पर भी जल को सोख नहीं सकता, उससे ऊपर ही रहता है, उसी प्रकार ईश्वर के साक्षात्कार की दशा में प्रवेश पाकर, उसमें लय रह कर भी हम उस असीमित, सम्पूर्ण साक्षात्कार के परमानन्द को भोगने की क्षमता नहीं पातें हैं परन्तु उस परमानन्द की परमगति का अन्दाज हमें श्री बाबूजी में लय-अवस्था द्वारा अवश्य मिलता रहता है। इसी प्रकार तब संसार का कार्य और व्यवहार हमारे द्वारा जल में कमल के पत्ते के सदृश स्वतः ही होता रहता है। अचम्भा इतना एक अवश्य हो जाता है कि उस परमानन्द में भी लय करके वह दिव्य-सम्पूर्णता भी जब श्री बाबूजी महाराज अपनी कृपा से हमें बख्श देते हैं, अर्थात् उस साक्षात्कार की हालत की भी 'बका' अर्थात् परिपक्वता में हमें प्रवेश देते हैं, तभी वास्तव में लोग उसे साक्षात्कार पाया हुआ साधक (Realised Soul) कहकर पुकार सकते हैं। परन्तु भला वह क्या कहे जो होते हुए भी तब होता ही नहीं है। श्री बाबूजी महाराज का कथन है कि जहाँ ज्ञान और अज्ञान कुछ भी शेष नहीं रहता है, अर्थात जहाँ 'कुछ और है' शब्द अर्थहीन हो जाता है, वही साक्षात्कार की हालत का खुलापन है। जब अभ्यासी के समक्ष साक्षात्कार की दशा व्याप्त होती है, और वह उसमें लय होने लगता है, तभी वह मिलन की दशा को पा जाता है, और तभी से वह साक्षात्कार का साक्षीभूत हुआ रहने लगता है। तभी श्री बाबूजी महाराज का यह कथन अभ्यासी के लिए प्रत्यक्ष हो उठता है कि "जहाँ ज्ञान-अज्ञान कुछ भी शेष नहीं रहता वहीं साँचे साक्षात्कार की दशा है।"

अब प्रश्न यह उठता है कि वास्तव में ज्ञान क्या है, कौन-सा तथ्य है जो हमसे छुपा रहता है, और हममें ही सोया रहता है। इसके विषय में अनुभव ही दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि ज्ञान वास्तविकता अर्थात् अन्तिम-सत्य का अणु रूप है, जो समस्त के अन्दर समाहित है, किन्तु भौतिकता में भूल कर जिसे हमने अनदेखा सा कर दिया और जिसके प्रति हम इतने उदासीन हो चुके हैं, कि उससे अपनायत होना तो दूर की बात है, हम उससे बैरागी से ही हुए रहते हैं। जीवन पर जीवन व्यतीत होते चले जाते हैं परन्तु उस तथ्य अर्थात् ईश्वर के अंश को स्वयं अपने में विकसित करके पुनः ऐसा तादात्म्य उत्पन्न कर लें, कि फिर हममें और उसमें कोई अन्तर ही न मालूम पड़े, यही ज्ञान की वास्तविक परिभाषा है। श्री बाबूजी ने कहा है कि "जब अभ्यासी में दिव्य-चेतना उत्पन्न हो जाए, और इसकी हालत में स्थायित्व पैदा हो जाए वही ज्ञान है।" अब यह प्रश्न अवश्य उठ सकता है कि दिव्य-चेतना क्या है? और कब उस सीमा तक आत्मोन्नति का रसास्वादन हम पा सकते हैं? उत्तर में यही कहना होगा कि श्री बाबूजी महाराज की प्राणाहुति शक्ति द्वारा जब ईश्वर का साक्षात्कार पाने की लोनी नयनों में लग जाए, एवं हर पल प्रतीक्षा का ही हो जाए, तभी समझना चाहिए कि अन्तर में दिव्य-चेतना हो उठी है, क्योंकि जाग्रत अवस्था में आते ही दैविक-चेतना अपने उद्‌गम की खोज में ही, विह्वल रहने लगती है। विचारों में ईश्वरीय-गति की सुगन्ध मिलने लगती है, तभी योग की तड़प एवं वियोगावस्था के अनुपम रसास्वादन से मन विभोर हो उठता है।

बोलते समय, लिखते समय, किसी को भी समझाते समय अनजाने ही स्वतः ही हममें से शब्दावली प्रवाहित होने लगती है। स्पष्ट रूप में इसे यों भी कह सकतें हैं कि तब विचार स्वयं उठते ही नहीं हैं। इतना ही नहीं, चाहते हुए भी हम विचार उठा ही नहीं सकते हैं। वे तो लिखते या समझाते समय स्वतः ही एक विस्मृत-अवस्था में बहते हुए आते हैं। ऐसे कि मानों ईश्वरीय-भेद को खोल रहे हैं। तभी समझना चाहिए कि चेतना दिव्य हो गई है। यही ज्ञान की श्रेष्ठतम अवस्था है जिसका हमें कोई ज्ञान नहीं होता। जब दिव्य-विचारों द्वारा ईश्वर की अभिव्यक्ति या उसका भेद स्पष्ट होता चला जाए, वही ज्ञान की श्रेष्ठतम अवस्था है। सद्गुरु में निरन्तर लय रहते हुए, मन, बुद्धि और चित्त जब अपने आदि-स्वरूप में लय हो जाते हैं तब स्वाभाविक स्रोत, ईश्वर की ओर से ही विचार हमारे में उतरते चले आते हैं। वास्तविक ज्ञान की अवस्था, अहं के सोलह वृत्तों के परे, दिव्य होती है (पाँच वृत्त माया अर्थात् ठोस अंह के तथा ग्यारह वृत सूक्ष्म अहं के हैं)। तब से ही, समझते हुए भी विचार मस्तिष्क को नहीं छूते अथवा लिखते हुए भी अभ्यासी के हाथ लेखनी का स्पर्श नहीं कर पाते हैं। तब विषय भी उस परम गति से ही टकरातें हैं और समाधान भी वहीं से आते हैं। इसी हालत पर आकर श्री बाबूजी महाराज का वह वाक्य हालत के रूप में हममें प्रत्यक्ष हो उठता है कि "हममें दिव्य प्रज्ञा" पैदा हो जावे, और उस हालत में स्थायित्व पैदा हो जावे, फिर और जब स्थायित्व की हालत भी 'उनमें' ही लय हो जावे, तो दर्शन का भी होश नहीं रहता है।" समर्थ-सद्गुरु श्री बाबूजी का दामन थामें जब हम

ईश्वर में भी लय हो जो हैं तब हमें "परा चेतन मन" का स्वतः ही योग मिलता है, जो योग से परे होता है। तब साक्षात्कार का पसारा तो ऊपर से नीचे झाँकने पर ही दिखाई पड़ता है। कौन बूझेगा, इस अबूझ पहेली को, कौन समझेगा इस नासमझ दशा को? सद्गुरु श्री बाबूजी के प्रति संवेदनशील रहते हुए, उनमें ही लय होकर यह अनुपम एवं दिव्य नज़ारा देखा जा सकता है। ऐसी श्रेष्ठ हालत पर मानव को पहुँचाने वाला समय का सद्गुरु ही हो सकता है जो ईश्वरीय-शक्ति पर मिलकियत पाये हुए, उनके द्वारा ही भेजा जाता है। प्रकृति जब किसी महत् को पृथ्वी पर जन के आत्मिक-कल्याण के लिए उतार लाती है तो उसमें पूर्ण शक्ति का निवास खिला हुआ मिलता है, और अधिकार ऐसा कि जन के आत्मिक-कल्याण के विषय में जो भी विचार उनमें आता है वह तुरन्त ही फलदाई होने लगता है। श्री बाबूजी महाराज की शक्ति द्वारा उनमें आये विचार मात्र से हम सहज-मार्ग के अभ्यासियों के हृदय का विशुद्ध होना प्रारम्भ हो जाता है। ऐसी महान्-विभूति की प्राणाहुति-शक्ति में जन साधारण में ईश्वरीय-विकास को विकसित कर पाने की क्षमता पूर्णतया समाहित रहती है। श्री बाबूजी महाराज द्वारा पाई हुई प्राणाहुति-शक्ति, मानव मन में ऐसा दैविक-चमत्कार उभार लाती है कि आध्यात्मिक-गतियों के विकास के साथ ही फैलती हुई दिव्य-अन्तर्दृष्टि भी फैलाव पाती है, और अन्तर्दृष्टि का यही फैलाव सिद्ध कर देता है कि 'उनका' आगमन मानव-मात्र के लिए ईश्वर-साक्षात्कार को सुलभ कर देने के लिए ही हुआ है। वे अंतर आवरणों को अपनी इच्छा-शक्ति से विशुद्धता में भिगोये रख

कर फिर उतार कर ऐसे फेंक देते हैं, जैसे हम एक कपड़ा उतार कर दूसरा कपड़ा बदल लेते हैं। अपनी प्राणाहुति-शक्ति द्वारा मानव-मन को पखारते हुए उसमें ईश्वरीय-धारा का सतत सिंचन देते हुए और ईश्वर-प्राप्ति के संकल्प को दृढ़ करते हुए वे मंजिल तक हाथ पकड़ कर ले चलते हैं। उनके द्वारा प्रतिपादित सहज-मार्ग साधना की यह विशेषता है कि इसमें साधना पक्ष और सिद्ध पक्ष दोनों साथ-साथ चलते हैं। एक ओर 'करना' अर्थात् ध्यान और दूसरी ओर पाना अर्थात् हृदय में ईश्वर गतियों के विकास की अनुभूति, दोनों बराबर ही चलते हैं। प्राणहुति-शक्ति वह जाग्रत दिव्य-शक्ति है जो सोते मानव-मन को जाग्रत अवस्था में लाने के लिए पूर्ण समर्थ है। अन्य साधनों द्वारा हममें ईश्वरीय-प्राप्ति की इच्छा जाग जाए यह हो ही नहीं पाता है। तमाम आयु पूजा के बनाव शृंगार में व्यतीत हो जाती है फिर भी अंतर सोया ही पड़ा रहता है, क्योंकि साधना में बिना मन के योग के ईश्वर के साक्षात्कार का मार्ग प्रशस्त नहीं होता है। मन को विशुद्ध बनाते हुए, उसकी गति को सहज ही ईश्वर की ओर मोड़ देने की सामर्थ्य एवं शक्ति केवल सद्गुरु श्री बाबूजी में मैने विद्यमान पाई है। सच पूछो तो साक्षात्कार की दशा का विकास सद्गुरु में लय-अवस्था की प्राप्ति होने पर ही प्रारम्भ होता है। लय-अवस्था (फ़नाइयत) अभ्यासी में तभी उत्पन्न हो पाती है, जब कि अपना पूर्ण सहयोग हम दिव्य-सद्गुरु को दे कर संवेदनशील हो रहते हैं। पूर्ण सहयोग उनके सतत स्मरण में डूबे रहने पर ही सम्भव हो पाता है। स्मरण में डूबे रहने की विशेषता यही होती है कि वह क्रमशः समस्त

भौतिक-तत्त्वों में से ठोसता को पिघला कर अभ्यासी के अन्दर आत्म-तत्त्व के प्रकाश को ही उभार लाती है, और क्रमशः हमारे समूचे अस्तित्व को उस दिव्य प्रकाश से प्रकाशित रखने लगती है। तब स्वतः ही बुद्धि एवं चित्त में दिव्य-ईश्वरीय-शक्ति का प्रसारण आरम्भ हो जाता है। जब हम सद्गुरु में लय रहने के प्रयत्न में सतत् प्रयत्नशील रहते हैं, तो वह दिव्य-प्रकाश एवं दैविक-शक्ति, हमारे समस्त अतंःकरण में दिव्य-निखार लाने लगती है। श्री बाबूजी की पावन-प्राण-शक्ति का प्रवाह, हमें साक्षात्कार के पथ में शीघ्र अग्रसर होने की शक्ति प्रदान करता रहता है। यों कहें कि हम सब कुछ लुटाए हुए, स्वयं की याद को भी बिसराये हुए, क्रमशः उनमें ही विलीन (फना) होते चले जाते हैं। एक समय ऐसा आ ही जाता है जब कि आत्म-साक्षात्कार की दशा का प्रारम्भ हो जाता है। इस दशा का निखार आने पर हमें यह अनुभव गम्य हो जाता है कि आत्मा, परमात्मा का ही एक अंश है। इस अवस्था में डूबे रहने पर यह प्रत्यक्ष अनुभव सहज ही होने लगता है कि आत्मा की परमात्मा से मिलने की बारी आ गई है, अर्थात् परमात्म-साक्षात्कार की दशा का प्रादुर्भाव अंतर में प्रत्यक्ष हो उठता है। यहाँ पर यह कहना आवश्यक है कि आत्म-साक्षात्कार की दशा अभ्यासी के स्वतः प्रयास की दिशा में अन्तिम ठहराव का स्थान है। इसके बाद सद्गुरु की कृपा से परमात्मा के साक्षात्कार की दशा में जो अब समक्ष मे बिखरी हुई है, प्रवेश कर पाना कठिन हो जाता है क्योंकि मानव के सीमित आत्म-तत्त्व को परमात्म-तत्त्व में प्रवेश पाना होता है। सद्गुरु श्री बाबूजी महाराज को कृपा करके

ऐसी सहज राह बनाते हुए मैंने पाया है, जिससे कि उस दिव्य-दशा का बहाव स्वतः ही उस परम तत्त्व परमात्मा की ओर से पवित्र-धारा के रूप में प्रवाहित होकर, आत्म-तत्त्व को सूक्ष्म बनाता हुआ अपने में मिलाने लगता है। इस तरह प्राणिमात्र के लिए आगे ईश्वर का साक्षात्कार कर पाने का मार्ग सहज ही सुलभ एवं सरल हो जाता है और अहम् की स्थूल अवस्था से हमें मुक्ति मिल जाती है और अब अहं के ग्यारह सूक्ष्म वृत्तों के गलने की बारी आ जाती है। तब श्री बाबूजी महाराज के आशीर्वाद भरे शब्द कि 'अभ्यासी में यह इन्तिहाई-ठहराव फिर कभी न आने के लिए समाप्त हो जाता है'' हमारे अन्तर में प्रत्यक्ष हो उठता है। क्योंकि आत्म-तत्त्व जो परमात्मा से अब तक अलग था, 'उसमें' मिलते ही ईश्वरीय-धारा के सतत प्रवाह से हमारा योग हो जाता है और तबसे ही स्वयं हममें से ईश्वरीय-धारा प्रवाहित होने लगती है। ईश्वर के साक्षात्कार की दशा में योग पा जाने से यह तथ्य हमारे समक्ष स्वतः ही खुल जाता है कि हम जो अब तक इस शरीर को दिए गए नाम को ही अपना समझ कर बोलते थे व्यवहार करते थे, वह हमारे सिमटेपन और संकुचित हुई बुद्धि का आवरण था, जो हमारी आत्मा के ऊपर पड़ा हुआ था। ईश्वरीय-धारा का प्रवाह अन्तर में निरन्तर मिलते रहने पर तो लगा, कि सहज-मार्ग में सहज ही हम लक्ष्य की ओर चल पड़े हैं, किन्तु परमात्मा से मिलन जो मानव का लक्ष्य है, उसमें जब वर्तमान गति योग पा जाती है, तब क्रमशः हम नाम-रूप से परे उठने लगते हैं। जैसे ईश्वर का कोई नाम नहीं है, 'उसका' कोई चोला या सीमित घेरा नहीं होता है जिसमें कि 'वह'

कुल समाया रहे और नाम को अपना समझकर क्रियाशील हो जावें, उसी प्रकार मानों जो अब तक हम अपने कुल अस्तित्त्व के साथ सीमित शरीर के घेरे में ही बन्दी बने रहते थे अब उन सबका क्रिया-कलाप स्वतः ही होना प्रारम्भ हो जाता है। हम तो मुक्त-अवस्था (Liberation) की अन्तिम दशा में लयलीन रहने लगते हैं। समय के सद्गुरु रूप में दिव्य-विभूति का धरती पर प्रादुर्भाव इसीलिए होता है कि सर्वप्रथम 'वह' हमें हमारी ही कैद से मुक्त करके आगे की सहज राह पर डाल दे। मुक्त-अवस्था, अथवा आत्म-साक्षात्कार की दशा की पहचान है कि हम सीमित अहं के घेरे से बन्धन-मुक्त हुए, ईश्वरीय-सामीप्यता की अनुभूति के परमानन्द में स्वतः ही लय रहना शुरू कर देते हैं। इस बात का पता हमें तब लगता है, जब कि जिस शरीर के द्वारा आत्म-साक्षात्कार की दशा में हमने प्रवेश पाया है, उसके नाम से पुकारे जाने पर वह स्वतः ही हमारे अनजाने ही अपना जवाब खुद दे देता है। ईश्वर साक्षात्कार की पूर्ण गति की प्राप्ति तो हमें तब समझना चाहिए, जब कि दर्शन की चाह में मदहोश से बढ़ते जाते हुए यह दशा हो जाए कि हमारा कोई अलग अस्तित्व ही शेष न रह जावे। ऐसी स्थिति में, जीवित रहते हुए भी, सांसारिकता से अलविदा ले लेते हैं और उस असल-तत्त्व में प्रवेश पा जाते हैं, जहाँ से हम अलग हुए थे।

साक्षात्कार के संकल्प की दृढ़ता ही सहज मार्ग साधना में, ध्यान की सूक्ष्म-धारा में प्रवेश देकर, निरन्तर लक्ष्य में लय रहने की क्षमता को निखार लाती है। यह आंतरिक-साधना ही मन की साँची साधना है, जो साध्य के साक्षात्कार को मानव के लिए

सुलभ कर देती है। सच पूछिए तो ईश्वर का साक्षात्कार पाने के लिए निरन्तर उस ध्यान में तन्मय रहना ही सतत, एवं सुदृढ़ साधना है। निरन्तर ध्यान में डूबे रहने का प्रयत्न ही सतत स्मरण है। ध्यान का योग मिल जाने पर सतत पावना, और देना प्रारम्भ हो जाता है। हममें से कुछ जाता है और कुछ जाते रहने का आभास, ईश्वरीय ध्यान में उनसे योग पाने के रूप में मिलता रहता है, क्योंकि ध्यान में तन्मयता ही अहं से मुक्त-अवस्था पाने का प्रथम चरण है। इसमें डूबते ही हमारा अहं दिव्यता की सेंक पाने से, घुलना प्रारम्भ हो जाता है फिर परिणाम स्वरूप जो हमें प्राप्त होता है, वह मुक्त-अवस्था अथवा आत्म-साक्षात्कार का आगाज़ होता है। सहज-मार्ग साधना में ईश्वरीय प्रकाश में डूबे रहने के ध्यान का अर्थ ही यह है कि हमने अपने अहं को पीठ देकर, ईश्वर के प्रतिबिम्ब में प्रवेश ही नहीं पाया बल्कि उसी में रहना शुरू कर दिया है। ध्यान की सूक्ष्म-अवस्था, अर्थात् सूक्ष्म एवं कारण शरीर से भी परे ध्यान का आत्मा में स्वतः ही लय रहना, हृदय में ईश्वरीय-प्रादुर्भाव के पा जाने की खुशखबरी है। इसीलिए ध्यान में बेसुध हुए डूबे रहने पर, सूक्ष्म एवं दिव्य ईश्वरीय धारा का, और उस सूक्ष्मतम पसारे का योग, हमारे अन्तर में बंधन-मुक्त फैलाव का योग प्रदान कर देता है। क्रमशः 'उसका' प्रकाश एवं दिव्य-पसारा और ईश्वरीय धारा के योग का अनुभव भी दृष्टि से ओझल हो जाता है। फिर रह जाता है केवल 'वह' जो हमारा प्राण है, 'वह' जिसकी सूक्ष्मता हमारी हर श्वांस में समाई हुई है। 'वह' जो ध्यान द्वारा हमारे अन्तर में प्रकट हो

जाता है, और हमे मुक्ति प्रदान करके अपने में समेट लेता है। वास्तविकता की ऐसी झलक मिलते ही फिर एक पल का भी हमें विराम कहाँ। यहीं से साँचे साक्षात्कार की अनुभूति हमें मिलने लगती है। अब हम स्वयं समक्ष एक बच्चे की भाँति खुले अन्तःकरण से सुधि बिसराये हुए खड़े रह जाते हैं।

आज यह सत्य स्वीकारना होगा, कि ईश्वरीय-गतियों का विकास उसके ध्यान में उसका पावन-योग पाकर ही हममें खिल सकता है। सहज-मार्ग साधना में ध्यान में श्री बाबूजी महाराज की इच्छा-शक्ति द्वारा उनसें पाई हुई प्राणाहुति-शक्ति का योग पाकर ही वह दिव्य विकास हमारे लिए सम्भव हो सकता है। ईश्वरीय-प्रकाश में विलीन अन्तर्दृष्टि द्वारा ही, उसका दर्शन एवं साक्षात्कार की हालत को पाया जा सकता है। सामीप्यता, एवं सालोक्यता, की अनुभूति पाकर हमारा अन्तर हमारा न रहकर 'उनका' ही घर हो जाता है। इस प्रकार यह सत्य भी हममें आत्मिक-विकास पाकर प्रत्यक्ष हो जाता है कि सहज-मार्ग साधना की नींव नितांत आध्यात्मिकता पर ही आधारित है। दिव्यता उसका प्रसाद है, जो कि ध्वनि, गति, भक्ति एवं ज्ञान सबसे परे है। स्वयं अपनी ही आवाज या ध्वनि से हम अछूते रहने लगते हैं, अर्थात् अपनी ही आवाज का स्पर्श हमें नहीं हो पाता है। क्रमशः दूसरों की आवाज व स्पर्श से भी हम ऊपर जो जाते हैं किन्तु सुनने की शक्ति स्वतः क्रियाशील रहती है। श्री बाबूजी महाराज की कृपा से अन्तर में सजग हुई सजगता, हमारे द्वारा संसार के कर्त्तव्यों को सहजता से ही निभाती रहती है, जिससे कि सांसारिक जीवन में भी हम

सफलतापूर्वक चलते रहते हैं। श्री बाबूजी महाराज ने एक बार लिखा था कि ध्वनि का आधार 'ऊँ' है, किन्तु आध्यात्मिक-उन्नति की स्थिति के एक स्तर पर पहुँच कर, 'ऊँ' शब्द के उच्चारण करने पर भी आवाज या ध्वनि से हमारा अलगत्व ही रहता है। तभी से हालत में ध्वनि से परे रहने की रहनी का प्रारम्भ हो जाता है। सच ही 'मालिक' से बिछुड़े वियोगी के लिए एवं वतन से भटके बटोही को इतना समय ही कहाँ, जो किसी ध्वनि के श्रवण में उलझ सके। साक्षात्कार पाने की राह में चलने वाले राहियों के लिए 'उसकी' झलक की ललक, उसकी सामीप्यता के सेंक की अनुभूति ही, सबसे बड़ा आकर्षण होता है। यह भी कहना सत्य है कि ध्वनि व प्रकाश सभी, कहीं न कहीं भौतिकता से ही सम्बन्धित हैं, जब कि 'उसका' ध्यान भौतिकता से परे उस असीमित बिन्दु अर्थात् ईश्वर पर ही न्यौछावर हो जाता है।

कहते हैं आध्यात्मिकता के क्षेत्र में हम इच्छाओं से परे हो जाते हैं, तो क्या साक्षात्कार की इच्छा भी इच्छा नहीं है? यह कहना नितान्त ही सत्य है कि चाहना या इच्छा चाहे किसी भी स्तर की हो, अर्थात् चाहे भौतिक हो या साक्षात्कार पाने की हो, इच्छा ही कहलाएगी, परन्तु स्वयं का अपने संकुचित घेरे से मुक्ति पाने का प्रयास और दिव्य को पाने की चाह या पुनः वतन की वापसी हमारा कर्त्तव्य है। एक तथ्य हमें अवश्य याद रखना चाहिये कि ईश्वर-प्राप्ति के प्रयास में हमारी चाह अवश्य सम्मिलित होती है किन्तु ईश्वर-प्राप्ति में मात्र समर्पण ही होता है। क्योंकि ईश्वर इच्छा से परे है इसीलिए उसे इच्छा के द्वारा पाया ही नहीं

जा सकता है। सत्य तो यह है कि ईश्वर-प्राप्ति की सहज-गति में प्रवेश पाते ही हम इच्छाओं से परे हो जाते हैं। उपनिषद् भी कहता है कि "हे धरती पर विचरण करने वाले प्राणियों ! अगर तुम इच्छा ही करना चाहते हो, तो 'भूमा' की प्राप्ति की इच्छा करो।" मुक्ति पाने की चाहना, इच्छा नहीं होती है क्योंकि यह मन की माँग है कि जिसका वह अंश है उसमें ही मिल पाये। यह मानव जीवन का परम-ध्येय है जिसे पूर्ण करना प्रत्येक का कर्त्तव्य है। इसे पूर्ण किये बिना उसे परम एवं सतत् शान्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती है। भगवान् भक्ति से मिलते हैं इच्छा से नहीं। ईश्वर-दर्शन मानव-जीवन का परम-लक्ष्य है जिसे अपनाते ही हृदय परमानन्द का अनुभव करता है। इसीलिए उस दिव्यानन्द में हम डूबे रहते हैं, परन्तु इस परम अवस्था की प्राप्ति की दिव्य-रसानुभूति का ज्ञान न होने से हम उसकी इच्छा नहीं कर सकते हैं इसलिए यह हमारी गम्य से परे की गति है। यही कारण है कि श्री बाबूजी द्वारा पाई प्राणाहुति के प्रभाव से हमारी इच्छाएँ, अपनी वास्तविकता अर्थात् 'उसकी' इच्छा में प्रवेश पा जाती हैं। तभी से हमारा अन्तर, चाहे जो भी परिस्थितियाँ आएँ, 'उनकी' ही इच्छा है मानकर उसके प्रभाव से बहुत कुछ परे रहने लगता है। यहाँ पर यह कहे बिना भी नहीं रहा जा सकता है कि भौतिक-प्रभाव से परे उस वास्तविक हालत में लय रहते हुए, उसका सौंदर्य हमारे लिए प्रत्यक्ष होता जाना केवल समर्थ सद्गुरु की कृपा पर ही निर्भर करता है। यहाँ हमारी प्रार्थना की यह अन्तिम पंक्ति हमारे समक्ष पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाती है कि

"बिना तेरी सहायता तेरी प्राप्ति असम्भव है।" कैसा आश्चर्य है कि साक्षात्कार की परमानुभूति में, क्रमशः ईश्वर-प्राप्ति की तड़प भी विलीन हो जाती है। उस परम-गति की प्राप्ति होने पर इस परम लक्ष्य की पूर्ति के लिए हृदय में उत्पन्न हुआ प्रेम, भक्ति, ज्ञान तथा अनुभव भी इसमें लय हो जाता है एवं हमारा कण-कण साक्षात्कार से पुलक उठता है। लय-अवस्था और अन्तर्दृष्टि, जिसके आधार पर साक्षात्कार की नींव थी, वह भी उस परम-गति की प्राप्ति हो जाने पर उस सर्वव्यापी गति में व्याप्त होकर समा जाते हैं। रह जाती है केवल 'सहज अनुभूति' की याद, जो अहम् की सीमा से पार सहज ही उस परम-साक्षात्कार के दिव्यानन्द को हमारी बेसुधी में भी पीती रहती है। यह कहना भी ठीक होगा कि पीकर पनपती अर्थात् ईश्वरमय होती चली जाती है। इस विषय में यह कहना पर्याप्त होगा कि साक्षात्कार की परम-गति में लय (फना) हो जाने पर उसकी परिपक्व अवस्था (बका) हमें ईश्वर के दरबार से मिलती ही है। इस परम-अवस्था की प्राप्ति में श्री बाबूजी महाराज का यह कथन हममें स्पष्ट रूप से उतर आता है कि 'Reality is baseless base' अर्थात् 'वास्तवकिता आधार रहित आधार है,' क्योंकि सहज का आधार कुछ नहीं होता है। यहाँ पर यह परम सत्य स्वीकारना होता है कि उस दिव्य के साक्षात्कार की प्राप्ति का सौभाग्य, श्री बाबूजी महाराज की पावन-प्राणाहुति-शक्ति द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। उनकी सतत देखरेख ही हमारे अन्तर को पावन बनाती रहती है। अन्तर में उनके दिव्य-नेत्रों की सतत

अनुभूति पाते रहना ही हमें यह बताता है कि हम उनकी निगाह में ही पल रहे हैं। तन्मयता की सहज-अनुभूति में पगते हुए, उनका यह कथन हम अनुभव में पाने लगते हैं कि 'Transmission is the Utilization of Divine Power for the transformation of Mankind अर्थात् प्राणाहुति उस दिव्य शक्ति का उपयोग है, जो मानव में दिव्य-सौंदर्य को निखार लाने में समर्थ होती है। साक्षात्कार की दिव्यावस्था में प्रवेश पा जाने पर, श्री बाबूजी महाराज के इस कथन का आभास भी हमें सहज की मिलने लगता है, कि 'World is the exaggaration of reality' अर्थात् ध्यान में लय रहते हुए हमें यह अनुभूति रहने लगती है कि संसार उस परम-सत्य ईश्वर की व्यापकता में ही पल रहा है। संसार में वृत्तियों के द्वारा आदान-प्रदान स्वतः ही होता रहता है। यों कह सकते हैं कि गुण,गुण में बर्तते रहते हैं। श्री बाबूजी की प्राणाहुति-शक्ति और निरन्तर पालन करती उनकी ममत्व-भरी दृष्टि का अवलम्बन पाते हुए ईश्वर का साक्षात्कार पाना हमारे लिए कठिन नहीं रह जाता है। इतना ही नहीं, इस परम आनन्द को पाते हुए, उसमें भी फ़ना होकर बैरागी से उससे भी आगे बढ़ते जाते हैं। परन्तु अब वास्तव में हम नहीं बढ़ते हैं, बल्कि दिव्य आकर्षण की शक्ति स्वतः ही हमें अपनी ओर खींचने लगती है, फिर हममे ताब कहाँ जो एक क्षण को भी ठहर सकें। साक्षात्कार से भी हमें सन्तोष कहाँ मिल पाता है? हम तो बेसुध से खड़े रह जाते हैं, किन्तु फिर मिलन के ये क्षण बढ़ाये नहीं जा सकते। इसका मुझे

बाद में होश आया जब श्री बाबूजी ने यही लिखा कि "सदगुरु का धर्म है कि बच्चे को आगे ही बढ़ाए। तुम्हें बेहोशी के मात्र वे ही क्षण मिले थे। तुम्हें परमानन्द में देखकर भी मैं तुम्हारे लिए वही क्षण जोड़ सका था।" यह पढ़कर मैं विभोर हो उठी। किन्तु श्री बाबूजी महाराज का संकल्प, कि 'अभ्यासी अपने अन्तिम-सत्य' से तादात्म्य प्राप्त कर सके,' यही परम-लक्ष्य के रूप में तब हमारे अन्दर उतर आता है। फलस्वरूप अनजाने ही हमें 'भूमा' से पहिचान सी शुरू हो जाती है। साक्षात्कार की वह अनुपम, दिव्यावस्था भी अब हमारे श्री बाबूजी के इस परम संकल्प मे लय हो जाती है। अब समक्ष में व्याप्त 'मालिक' के इस दिव्य संकल्प अर्थात 'भूमा' तक पहुँचने की परम गति को एवं उस अपरिमित-अन्तिम-सत्य को अभिव्यक्त कर पाना नितान्त असम्भव लगता है। दिव्यता को तो अनुभूति में भरा जा सकता है, परन्तु अब दिव्य के स्वातन्त्रय को कौन ललकार सकता है। उस अनुपम एवं 'मानव-गम्य से परे, अन्तिम सत्य के आदि क्षोभ की धारा में भी कैसे यत्नपूर्वक श्री बाबूजी हमें प्रवेश दे देतें हैं, इसे व्यक्त कर पाना वाणी से परे है। अपने सुसंकल्प में, कि "प्राणिमात्र अन्तिम-सत्य तक पहुँच सके" हमारे होने के अन्तिम एहसास को भी प्रवेश देकर अन्तिम-सत्य के भेद की स्पष्टता को सुलभ कर देना, ऐसी समर्थ शक्ति-युक्त विशेष-विभूति श्री बाबूजी का परिचय उनकी कृपा द्वारा ही प्रत्यक्ष हो पाता है। गति अब विश्राम ले चुकी होती है। भूमा की गति में पैराव (Swimming) शुरू हो जाता है। इसमें भी केवल साक्षी-भूत

हुए से हम, आदि अवस्था की ओर बढ़ते चले जाते हैं। अब कुछ भी कह पाने में जिह्वा मौन हो गई है।

प्रश्न यही उठता है कि जब पैराव है, तो उसमें गति का होना भी आवश्यक है। यह विषय में केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जबसे पैराव की दशा का आरम्भ होता है, मन पूर्ण साम्य' अर्थात् उसकी सी ही अवस्था में लय हो जाता है। फिर भी जो पैराव हमें प्रतीत होता है, वास्तव मे वह हमारी अपनी दशा नहीं होती है, बल्कि उस आदि की ही प्राकृतिक-अवस्था (Nature of Nature) है, जिसमें प्रवेश पाकर सहज ही हम वही अनुभव करने लगते हैं। अन्तिम-सत्य अर्थात् भूमा के साक्षात्कार की इस अन्तिम-दशा' में पैरते जाना, तथा उसको व्यक्त कर पाने के लिए शब्दों का सहारा पाना भी धरती पर उतरी हुई, दिव्य-विभूति (Divine Personality) श्री बाबूजी की महती कृपा द्वारा ही सम्भव हो पाया है। अपने होने का आधार भी जब समाप्त हो जाता है तो फिर अब हम कह भी क्या और कैसे सकते हैं? यहाँ मैं केवल इतना ही कह सकती हूँ, कि मानव मात्र में, अन्तिम सत्य के साक्षात्कार की भी प्रत्यक्षता उतार कर, उसमें भी पैराव देने वाले श्री बाबूजी महाराज सी दिव्य विभूति सदा-सदा हमारे मध्य में देदीप्यमान रह कर आध्यात्म-पथ को प्रकाशित करती रहे।

सद्गुरु

सद्गुरु का अवतरण प्राणिमात्र को ईश्वर-प्राप्ति की दिशा में ले जाने के लिए ही होता है। सद्गुरु की यह बहुत भारी महिमा है, कि वह कोई ऐसा छोटा सा दिव्य-गुर खोज ले आता है, कि जिससे जन-साधारण के लिए भी, ध्यान में लयलीन रह कर, ईश्वर-प्राप्ति की अनन्त यात्रा को पूर्ण कर पाना सुलभ एवं सुगम हो जाता है, क्योंकि सद्गुरु की प्राणाहुति का प्रवाह हमारे अंतर में सोई हुई दिव्य ईश्वरीय-शक्ति को थपथपा कर जागृति दे देता है। मैनें देखा है कि बिना प्राणाहुति शक्ति का प्रवाह पाए, ईश्वर-प्राप्ति की चाह या तड़प हमारे अंदर उत्पन्न ही नहीं हो सकती है। इसका कारण यही है, कि जिस शक्ति का योग ईश्वर से होता है, जब वही शक्ति सुषुप्त रहे तो फिर उसकी प्राप्ति की चाह कैसे उत्पन्न हो सकती है। जैसे जीभ में यदि सहज स्वाद की क्षमता भर जावे तो उसे किसी भी खाने का स्वाद ही नहीं लगेगा, खाना भले ही बदल-बदल कर खाती रहे। इसलिए जब सद्गुरु-कृपा एवं शक्ति द्वारा, हमारे मन में सुषुप्त हुई ईश्वरीय शक्ति जागृत हो जाती है, तब साक्षात्कार की भूख भी जागृत हो जाती है। कबीर ने बहुत अच्छा कहा है कि "सत् का द्वार सुरत की कुंजी, भरम के लागे किवाड़ा।" मानव हृदय के कपाट को अपनी दिव्य इच्छा-शक्ति द्वारा, अपनी प्राणाहुति का सम्बल देकर खोलने का गुर, सद्गुरु के ही पास होता है। कैसे 'वह' अपनी इच्छा-शक्ति से हमारे हृदय में ईश्वरीय-प्रकाश का प्रसारण करते हुये, तम रूपी तिमिर का प्रथम

दृष्टि में निवारण कर देते हैं, अपनी कृपा और शक्ति से हमारे अन्तर की दिव्य चेतना को जागरण दे कर, हमारी लगन एवं सुरत के लक्ष्य के प्रति सुदृढ़ बना देते हैं। ईश्वर से सामीप्यता प्रदान कर देने की सहजता देखते ही बनती है। अनुभूति दिव्य रसानुभूति में पगने लगती है। हमारे अन्तःकरण के सारे विकार और संस्कारों के आवरण ऐसे छँटते चले जाते हैं, जैसे बरसात में सूर्य के दर्शन होते ही बादल के टुकड़े भागना शुरू कर देते हैं। तभी हमारे मानस में आलस और अवसाद के बादलों का निराकरण होकर ईश्वरीय-प्रकाश रूपी सूर्य देदीप्यमान हो जाता है। हृदय को सद्गुरु ही वह शक्ति प्रदान करते हैं जिससे हम साध्य की प्रत्यक्षता पाने के योग्य बनते हुए उसकी प्राप्ति में सफल हो जाते हैं। एक बात मैं यहाँ बिना कहे नहीं रह सकती हूँ कि केवल भौतिक बंधन, भौतिक आकर्षण एवं मोह ही ऐसे नहीं हैं जो हमे साध्य तक पहुँचने में बाधा पहुँचाते हैं, बल्कि साधन-काल में दिव्य-ईश्वरीय गतियों के आनन्द का आकर्षण भी ऐसा होता है कि जिससे हमारा मन साध्य की प्राप्ति के लक्ष्य को भूल कर पुनः-पुनः उसी दिव्य रसानन्द में डूबा रह कर खो जाना चाहता है। सतत समरण में रमे रहने के अभ्यास से, एवं लक्ष्य प्राप्ति की दिशा में सतत सावधान रहने से दुनिया के मोह और आकर्षण से हम बहुत कुछ बच सकते हैं, परन्तु दिव्य ईश्वरीय गतियों के रस-सागर में डुबकी लग जाने पर परमानन्द में खोये मन को बार-बार अपनी दिव्य-शक्ति से होश में ला कर, जागरण दे दे कर राह पर लाते जाना, मात्र केवल सद्गुरु की शक्ति एवं उनके अलौकिक प्यार से ही संभव

होता है। एक बात यह मैं अवश्य कहूँगी कि सद्‌गुरु श्री बाबूजी की शक्ति एवं निगाह की आवश्यकता हमें आध्यात्मिक-उन्नति की ओर अग्रसर होते हुए अधिक होती है। शिखर तक पहुँचने के लिए तो हमारा हर पल उनके सहारे पर ही चलता है। कभी आनन्द का अनुभव न होने पर, या अन्तर में थकान अनुभव होने पर, जब हम मुरझाए से खड़े रह जाते हैं तब उनकी ही मधुर छवि हमारे सामने बार-बार प्रगट हो कर हमें अपनी शक्ति का सहारा और दिव्यता का आकर्षण दे कर पुनः आगे की ओर अग्रसर करती है। आज हृदय यह कहने को विवश है कि साधना का गहन सम्बन्ध सद्‌गुरु से ही है। सद्‌गुरु श्री बाबूजी के स्नेहांचल की छाँव में पलने पर साधना तेजस्वी हो जाती है। सफलता की सुगन्ध, सद्‌गुरु-हृदय रूपी पुष्प में विलीन हो जाने पर सतत एवं शाश्वत हो जाती है। एक ओर तो यह सत्य है कि सद्‌गुरु की कृपा एवं निगाह पाये बिना साधना खिलती ही नहीं है, दूसरी ओर यह भी सत्य है कि आध्यात्मिकता की साँची ललक के बिना सद्‌गुरु मिलता भी नहीं है। अगर हृदय में साक्षात्कार के लिए सच्ची तडप है, साध है तो उसको सफल बनाने के लिए सद्‌गुरु को आना ही पड़ता है। उस साध को पूर्णता देने के लिए सद्‌गुरु को प्रगट होना ही पड़ता है। मै तो यही कहूँगी कि "करें लाचार जब हम, तो सद्‌गुरु आएँ धरणी पर।"

एक बात समझ में यहीं नहीं आती है कि आखिर सद्‌गरु शब्द की रचना ही क्यों हुई है। धरती की किस आवश्यकता ने सद्‌गुरु का आवाहन किया? कौन-सी जरूरत उसे पृथ्वी पर खींच लाती है?

मानव की कौन-सी ऐसी सुप्त प्यास होती है जिसकी पूर्ति हेतु सद्गुरु का प्रादुर्भाव होता है? सद्गुरु कौन होता है? इन प्रश्नों का हल आज बखूबी समझ में यही आता है कि सृष्टि बनी, उस प्रथम क्षोभ में जो शक्ति का पुँज केन्द्रित हुआ और निर्माण की धारा शुरू हुई, तो उसकी शक्ति से भरपूर और मिले जुले स्वरूप से ही सद्गुरु शब्द की रचना हुई। ईश्वर को जानने वाला कोई एक तो होना ही चाहिए था, जो 'उस' तक रचना के प्राणियों को ले जा सके, इसी हेतु सद्गुरु की आवश्यकता हुई। आज मेरे समक्ष यह भेद प्रकट हो गया है कि सत् (ईश्वर) गुर (भेद) अर्थात ईश्वर के भेद को जो भलीभाँति जानता है वही 'सद्गुरु' है। वही उस दिव्य-शक्ति का प्रयोग मानव के आध्यात्मिक उत्थान के लिए कर सकता है। धरती की यही जरूरत सद्गुरु का आवाहन करती है। अगर उस आदिसत्य को कोई जानने वाला न होता एवं उसकी प्रकृति की सूक्ष्म शक्ति एवं बारीकियों को पहचानने वाला न होता, तो कौन उस सहज गति को जान कर आदि प्रकृति में हमें प्रवेश दे पाता जिसका स्रोत 'भूमा' है। यों कह लें कि आदि शक्ति युक्त युग-पुरुष श्री बाबूजी महाराज को ही सद्गुरु की संज्ञा दी जा सकती है। उनका अन्तर ईश्वरीय होता है और अपनी दिव्य प्राणाहुति शक्ति[१] द्वारा रचना के प्राणियों को भव-सागर से उबार कर, सहज-सत्य-पथ पर आरूढ़ कराते हुए यह अन्तिम सत्य से योग दे सकने में समर्थ है। इतना ही नहीं समय को सुधारने के लिए प्रकृति की धाराओं को सीधी और सुव्यवस्थित करने के लिए दुःख, भ्रम और सांसारिक छलावे में बहके हुये प्राणियों को

सहज-मार्ग द्वारा हमारे श्री बाबूजी सत्य-पथ पर ले जाते हैं। हमारे (जीव के) सत्य रूप को निखार लाने के लिए सद्गुरु की ही प्राण-शक्ति पूर्ण समर्थ है। कैसा महत् होता है उनका संकल्प एवं कितना व्यापक होता है उनका यह कार्य। अनुभव द्वारा अभी इतना ही समझ में आया है कि ठोस विचारों से भर हुआ वर्तमान का यह ठोस वातावरण, और शोक, मोह में ग्रसित, अन्तर की पीड़ा से व्यथित एवं संकुचित हुए मन और बुद्धि वाले प्राणियों को अपनी इच्छा-शक्ति द्वारा, अपने दिव्य प्राणों की आहुति (Transmission Power) का प्रवाह देकर शारीरिक तन्त्र के समस्त विष को पीकर, अमृत-वर्षा करने वाले मात्र सद्गुरु श्री बाबूजी ही हैं। अपनी श्वास प्रति श्वास द्वारा वातावरण मे ईश्वरीय धारा को फैलाते हुए सद्गुरु ही वास्तव में कठिन 'करयुग' का सत् (ईश्वरीय) युग बनाने के लिए, भेजे जाते हैं। समा (वातावरण) को बदलने के लिए युग की पुकार एवं धरती की गुहार समर्थ सद्गुरु श्री बाबूजी को धरणी पर उतार लाई है। इसीलिए सद्गुरु-शक्ति का भाँति-भाँति से वर्णन किया जाता है कोई उसे साँचा सूरमा कहता है, कोई उसे गोविन्द से भी ज्यादा प्यार देने वाला बताता है, लेकिन फिर भी सद्गुरु की गरिमा का भेद ज्यों का त्यों बना रहता है। क्योंकि उसकी पूर्णता जानने वाला वह स्वयं ही होता है। श्री बाबूजी का कथन है कि ईश्वर को यदि पाने वाला न हो, तो उसे यह नहीं मालूम कि वह ईश्वर है। उसके लिए कोई विशेषण हो ही नहीं सकता है। अवतार के लिए अनेकों नाम एवं शक्ति के विशेषण दिए गए हैं, जैसे बारह कला और सोलह कला का अवतार इत्यादि,

लेकिन सद्गुरु अपने में केवल एक है। 'वह' जो है सो है। एक बार किसी के प्रश्न का उत्तर देते हुए श्री बाबूजी ने कहा था, कि "मै वह हूँ जो मुझे होना चाहिए।" उनके लिए कोई क्या कह सकेगा। सच पूछो तो उनको भी यह पता नहीं कि 'वह' क्या हैं और कौन-सा दिव्य-रत्न वह प्राणिमात्र के लिए बिखेर रहे हैं। उनको स्वयं का ही पता नहीं होता है। प्राणियों के लिए वातावरण में 'वह' कौन-सी दिव्य महक भर देतें हैं, इसका पता वह खुद ही नहीं पा सकते हैं। जब मैंने श्री बाबूजी को लिखा कि आपके बनाए हम जहाँ भी निकल जाते हैं, लगता है एक तेज फैल जाता है।" तो उन्होंने लिखा कि "शुक्र है 'मालिक' का जो ईश्वरीय-शक्ति की किरणें फूट कर तुमसे बाहर फैलने लगी हैं।" फिर जिसमें अपार दिव्यता है तो भला अपार में से क्या कुछ घटाया जा सकता है? अपार तो अपार ही रह जाता है। सागर में से कौन नदी कितना जल ले गई, भला उसे क्या पता होगा। आध्यात्मिक-उन्नति-पथ पर बढ़ता हुआ सहज-मार्ग का अभ्यासी जितनी महत-गतियों की अनुभूति पाता जाता है, उतनी ही सद्गुरु श्री बाबू जी महिमा उसे ग्राह्य होती जाती है। सद्गुरु की यही गरिमा है कि 'वह' आध्यात्मिक-जननी की भाँति वात्सल्य, एवं शक्ति प्रदान करते हुए अन्तर के आवरणों को साफ करके हमें हमारी अंहता की कैद से मुक्त कर देते हैं। ध्यान की मुग्धावस्था में प्रवेश देकर, मुक्त-अवस्था प्रदान करके, हमें हमारी मूल-अवस्था (original state) में मिला देतें हैं। इसका पता हमे तभी मिल पाता है जब कि हमारे अन्तर नयनों को भी 'वह' अपनी दिव्य ज्योति प्रदान कर देते हैं। क्योंकि सद्गुरु का दर्शन बिना दिव्य-दृष्टि पाए नही होता है।

सद्गुरु पूर्ण है, इसका अन्दाज और प्रत्यक्षता हमें अपनी मंजिल पर पहुँचने पर ही दिखाई पड़ती है, जबकि हम स्वयं में स्वयं को न पा कर रचना से परे मात्र केवल रचयिता को ही अनुभव में भर पाते हैं। जैसे सद्गुरु के लिए केवल सद्गुरु शब्द ही पूरक होता है, ईश्वर के लिए केवल ईश्वर शब्द ही पूरक होता है , इसी प्रकार स्वयं हमारे में भी अवतरित हुआ ईश्वर (Divine) ही जीव का पूरक होता है। यह ईश्वरीय भेद है जिसे सद्गुरु हमारे समक्ष प्रत्यक्ष करते हैं। साक्षात्कार पाने पर ही सद्गुरु की महिमा कुछ समक्ष में आ पाती है। हम क्या थे और अब क्या हो गए, यह भेद साक्षात्कार पूर्ण हो जाने पर पूर्णरीत्या स्पष्ट हो जाता है। सत्य (Reality) प्रत्यक्ष ही नहीं, बल्कि हममें सजीव हो उठता है। इसीलिए ईश्वर से सद्गरु की ही महिमा अपार बताई गई है और उसकी शक्ति अमोघ बखानी गई है।

इतना ही नहीं "उनका" पावन संकल्प, एवं संकल्प-पूर्ति के लिए अमोघ इच्छा-शक्ति एवं दिव्य- प्राणाहुति शक्ति, एवं उनके द्वारा सँवरते हुए, लक्ष्य की ओर एकाग्रता पाये हुये हम अभ्यासी इसका जीवन्त उदाहरण हैं। किसी भी अभ्यासी में ईश्वरीय-शक्ति उतार कर उसे प्राणाहुति शक्ति का प्रशिक्षक बना देना उनके बायें हाथ का खेल है। इसका प्रमाण भी हमें तब मिल जाता है जब वह प्रशिक्षक अभ्यासियों को प्राणाहुति देता है और पूजा के पश्चात् अभ्यासी अपनी शान्तिमयी एवं आनन्दमय दशाओं को व्यक्त करते हैं। अप्रत्यक्ष ईश्वर का भेद भी हम जन साधारण के लिए प्रत्यक्ष कर देना, अलौकिक कार्य है जिसे सद्गुरु श्री बाबूजी की पावन प्राणशक्ति ही सम्पन्न करती है।

सद्गुरु की दिव्य शक्ति, एवं 'उनका' व्यापक रूप जो व्यावहारिक रूप में हमारे समक्ष आता है, उसे यों कह सकते हैं कि जो शक्ति 'रचना बने' इस संकल्प के साथ अपने मूल[१] से अलग हुई, उसका मुख अपने उद्गम की ही ओर था। जैसे गिलास से पानी फेकनें पर पानी का मुख फेकनें वाले की ही ओर होता है, फिर उसका बहाव पीछे की ओर होना शुरू हो जाता है। इसी प्रकार उस दिव्यशक्ति का निचोड़ जो एक में समाहित हुआ, उसका मुख अपने आदि की ही तरफ था अर्थात् ईश्वर ने ही आदि रूप (भूमा) का मुख देखा जिससे भूमा की शक्ति का निचोड़ ईश्वर में पूर्ण रूप से समाया। उस पूर्ण-शक्ति का समावेश पाए हुए सद्गुरु श्री बाबूजी सृष्टि के बिखराव में पुनः स्थिरता प्रदान करने के लिए एवं स्वाभाविक रूप में सँवार लाने के लिए सृष्टि की श्रेष्ठ रचना 'मानव' एवं वातावरण को सँवारने के लिए अवतरित हुये हैं। इस गुरुतर कार्य के लिए ही सद्गुरु श्री बाबूजी मूल शक्ति के मालिक के रूप में धरणी पर हमारे मध्य आध्यात्मिक उत्थान में कार्यरत हैं।

सद्गुरु की एक परिभाषा जो श्री बाबूजी महाराज ने लिखी है वह बहुत ही सुन्दर और सत्य है। उन्होंने लिखा है कि सद्गुरु की सबसे अच्छी परिभाषा और मिसाल 'उल्लू' से दी जा सकती है। उल्लू की यह विशेषता है कि वह जिस पेड़ पर बैठता है वह सूख कर गिर जाता है। वह जिस घर में बैठ जाता है वह घर वीरान हो जाता है, लेकिन उसे अपने इस गुण का कोई पता नहीं होता है। इसी प्रकार जिस हृदय में सद्गुरु का निवास हो जाता वह हृदय दिव्यानन्द से भरपूर होने के कारण भौतिक आकर्षण एवं आवरण विहीन होकर

वीरान हो जाता है। पहले तो स्वयं एक वही हृदय में बस जाता है फिर अभ्यासी को खुद में मिलाए हुये 'उसके' आदि रूप में मिला देते हैं। सद्गुरु के ध्यान (तसब्बुर) में डूबे रहने के अभ्यास द्वारा, सद्गुरु हमारे अंतर में विद्यमान हो जाते हैं, और हमारा मन ध्यान में विलीन हो जाता है। तब से ही हृदय भौतिक आकषर्ण से परे रहने लगता है। एक दिन जब उनमें लय-अवस्था शुरू हो जाती है, और वह दिव्य सौंदर्य बस जाता है तो फिर जिन बातों की जरूरत लक्ष्य पाने हेतु होती है जैसे भक्ति, प्रेम आदि इनका स्वतः ही हृदय में प्रादुर्भाव हो जाता है। किन्तु जब लय अवस्था का प्राकट्य हृदय में होता है तब क्रमशः इन सबका सुख-युक्त अनुभव भी भूलने लगता है। यों कह लें कि ये भी उन पर न्यौछावर हो जाते हैं। हृदय में 'उनके' समाते ही संस्कारों का जाल छिन्न-भिन्न होना शुरू हो जाता है और हृदय खोखले तने की तरह हो कर रह जाता है। हृदय ही क्या धीरे-धीरे कुल शरीर के कण-कण में से भौतिकता का भद्दापन एवं ठोसता, सब कुछ उनकी सामीप्यता के सेंक से टिघल-टिघल कर बाहर निकल जाता है। जब भौतिकता बाहर निकल गई तो फिर धीरे-धीरे उसकी जगह दिव्यता से भरती जाती है, एवं अंतर-बाह्य में तब से वही दिव्यता छिटकने लगती है। एक दिन जब लय अवस्था भी लय (फनाए-फना) होने लगती है तब साक्षात्कार का समय आ पहुँचता है। कैसा अचरज आ जाता है कि जो सर्वव्यापी है वह सद्गुरु भला बंधन मे कैसे रह सकता है, इसलिये हम जो मालिक श्री बाबूजी में ही फना हुए मिट जाते हैं तो एक दिन मजबूरन हमको साथ लिए हुये वह हमें ईश्वरीय विराट में फैलाना शुरू कर देते हैं।

हम तो केवल देखते हैं कि वे क्या कर रहे हैं और हमें कहाँ और कैसे विराट में फैला रहे हैं। यह पावन एवं दिव्य समाँ देखने योग्य होता है। लेकिन 'सोई जानय जेहि देहु जनाई' ही सफलता की कुंजी है। हमारे श्री बाबूजी का कथन है कि ईश्वर को उस मय हो कर ही पाया जा सकता है, लेकिन वह खुद से किसी को मिला नहीं सकता है। दैविक-कार्य को दिव्य शक्ति का प्रवाह दे कर समर्थ सद्गुरु ही पूर्ण कर सकते हैं, और हम सद्गुरु में लय-अवस्था प्राप्त करके ही ईश्वर-प्राप्ति कर सकते हैं; अन्यथा यह असंभव है। सद्गुरु में फनाइयत पाए हुए प्रथम तो हम विराट में और फिर व्यापक अवस्था में व्याप्त हो जाते हैं। जिस महत् उद्देश्य की पूर्ति के लिए हमने सद्गुरु को पाया था वह इस स्थिति अर्थात् ईश्वर की प्राप्ति होने पर पूरा हो जाता है अब बारी हमारी आती है कि हम ईश्वर में लय हो जाने पर भी अपने 'बाबूजी' में पाई जिन्दगी (बका) में जीते हुए, 'उनका' मुख ही निहारते रहें तो फिर 'वतन'[1] जहाँ तक कि गम्य होता है, उसमें भी प्रवेश देने के लिए वह जरा भी विलम्ब नहीं करते हैं किन्तु यह समय अभ्यासी के लिए बहुत कठिन एवं दुविधामय होता है; क्योंकि एक ओर तो ईश्वर होता है जिसको वह सौंपा गया है और दूसरी ओर हमारे बाबूजी हमें आगे ले चलने को तैयार दीखते हैं। अतः उनको पीठ देना भी मुश्किल होता है क्योंकि सद्गुरु में प्यार के रूप में प्राण इस कदर लय हो चुके होते हैं कि मुख मोड़ते ही मानों प्राण खिंचने लगते हैं। इधर ईश्वर-प्राप्ति का परमानन्द एवं उस अनन्त सौभाग्य का दर्शन, न यह छोड़ा जाता है न वह छोड़ा जाता है। अन्त में सद्गुरु ही विजयी होते हैं। उनकी इच्छा शक्ति एवं

संकल्प जो हमें भूमा तक ले जाने को रहा है वही शक्ति हमारे समक्ष एक दिव्य पसारे का संकल्प-द्वार खोल कर हमें एक झलक 'भूमा' के ऐश्वर्य को दिखा देती है। तब अनुभूति ही दृष्टि बन जाती है और हम ईश्वर की गोद को छोड़ कर जो कि हमारे लिए अप्राप्य थी, श्री बाबूजी के परम संकल्प-द्वार में प्रवेश कर जाते हैं। वहाँ मैंने यह पाया कि जिन सात वृत्तों[1] के बारे में श्री बाबूजी ने जिक्र किया है, वे 'भूमा' के ऐश्वर्य के हैं, यानी आदि शक्ति के केन्द्र के हैं। परम जीवन सर्वस्व प्रिय सद्गुरु श्री बाबूजी का दामन थामें हुए उनके श्रेष्ठ संकल्प में समाए हुए हम ऐसे चल पड़ते हैं जैसे माँ का आँचल पकड़े बच्चा उसके पीछे-पीछे चला जाता है। बस उसे न आँचल पकड़ने का ज्ञान है और न स्वयं की प्रतीति। एक अनोखी बात यह होती है कि ईश्वर की ड्योढ़ी पार कर फिर मुड़ कर देखने का होश कभी आता ही नहीं है। शायद इसीलिए कि 'मालिक' को यह डर होता है कि अभ्यासी में कहीं पुनः प्यार न उभर आए, क्योंकि ईश्वर प्राप्ति के लिए पाया हुआ प्यार उसकी प्राप्ति हो जाने पर उनमें ही लय तो हो जाता है, किन्तु अभी उसका ताजापन कहीं पुनः प्यार को ताज़गी दे दे, इसीलिए पीछे मुड़ कर पुनः देखने का होश कभी आता ही नहीं है। कहाँ है ऐसे समर्थ सद्गुरु की मिसाल? सद्गुरु श्री बाबूजी की वह महिमा, 'उनका' वह वात्सल्य, क्या कभी भुलाया जा सकता है? अनगिनत आत्मिक गतियों में लय करते हुए प्रथम तो उन्होंने ईश्वरीय देश में लाकर हमें उसका साक्षात्कार कराया, पुनः अपने वात्सल्य का आँचल पकड़ाए हुए अनन्त पथ में प्रवेश दे कर वतन (भूमा) अर्थात् अन्तिम-सत्य की वापसी की ओर ले चलते हैं। इस

अनन्त-पथ में 'भूमा' के केन्द्र के सात वृत्तों में प्रवेश पाने पर एक दिव्य एवं अगम्य ऐश्वर्य का महत् पसारा हम देखते हैं, लेकिन इसमे कोई आकर्षण नहीं होता है। यह पसारा हमें अपनी ओर नहीं खींचता है। ईश्वर के द्वार तक तो हम उसकी शक्ति के आकर्षण के सहारे भी खिचें चले आये थे, क्योंकि मुझे बराबर यह अनुभव रहता था कि सारी वृत्ति ऊपर की ओर खिंची हुई है। फिर ऐसा लगा कि जहाँ तक वृत्ति का दायरा था उस सीमा को भी तोड़ कर दृष्टि उससे भी परे पहुँचने लगी है क्योंकि हमारा संकल्प ईश्वर-प्राप्ति का था और सद्गुरु का संकल्प इसको पूरा करना था। इसलिए उनका एक अनदेखा आकर्षण एवं अनजाना सान्निध्य, अनजाने में भी हमें ईश्वर तक खींच लाया था। यह एक अलौकिक अनबूझ पहेली है। सद्गुरु तो प्रथम चरण तक एक बूझी हुई पहेली है जिनका अर्थ है ईश्वर-प्राप्ति और फिर अनबूझ पहेली की तरह उससे भी परे अपने वात्सल्य एवं संकल्प के द्वारा वे भूमा के पसारें में प्रवेश दे देते हैं। पुनः हमको भी एक अनबूझ पहेली की तरह वहाँ स्थिर करना शुरू करे देते हैं, कहते हैं कि भौतिक पहेली का अर्थ जो बूझ लेता है वह मुनष्य बहुत बुद्धिमान समझा जाता है क्योंकि यह मनुष्य की बुद्धि से टकराव का परिणाम है जो उसकी स्वयं की रचना हैं। लेकिन उस अगोचर, विस्तृत आध्यात्मिक यात्रा रूपी पहेली का अर्थ जो हम पर खोल देता है वह सद्गुरु ही होता है। फिर इससे भी परे जो भूमा तक, अपने वात्सल्य के रस में पाग कर अपने संकल्प की सहज राह बनाकर हमें ले चलता है, वह सद्गुरु संज्ञा से परे संसार में उतरी दिव्य विभूति एवं युग-पुरुष की संज्ञा में हमारे समक्ष प्रकट हो जाता

है। सद्गुरु का कितना अनुग्रह हम पर होता है कि कर्म के समय यद्यपि हमने उसे साथ नहीं लिया था, तो भी हमें अपना कर वह 'भोग' के समय हमारे साथ रहते हुए, जन्म-जन्मान्तरों से एकत्रित संस्कारों का सफाया इस तरह से करते हैं कि हम स्वयं को तो हल्का और परमानन्द में डूबा हुआ पाते रहें, परन्तु वे क्या कर रहें हैं, कैसे कर हरे हैं, इसका होश हम कभी पा नहीं सके। इतना ही नहीं, ईश्वरीय गतियों के परमानन्द की अनुभूति देते हुए भी, समक्ष में फैली आगे वाली गति का अक्स, इस प्रकार देते रहते हैं कि हम भोग में भी उन्हें भूल जातें हैं। 'आगे बढ़ते चलें' ऐसी सजगता हमें लक्ष्य के प्रति चौकन्ना रखती है। मालिक का कथन कि यदि ईश्वरीय आनन्द का भोग भी हममें रहा तो भोग की शक्ल तो रही ही, जब कि जहाँ पहुँचना है, जिसे पाना है, 'उसके' लिए यही कहा गया है कि 'वह भोग से परे जो है सो है।' इतना ही नहीं, उनकी कृपा का स्मरण हमें पल-पल पर आता है। जब से 'वह' हमारे हृदय में प्रवेश करते हैं, एवं हमें उनकी अति सामीप्यता की अनुभूति मिलती है, तब से हम ऐसी दिव्य स्थिति में रहने लगते हैं जो हमें विभोर कर जाती है; यहाँ तक कि विषम परिस्थितियों से भी हम सदैव अछूते ही रहते हैं। कितना ही कष्ट हमें शरीर का हो या विपरीत परिस्थितियों का सामना हो, हम सदैव एक विस्मृत अवस्था में विलीन से रहते हैं। इसका कैसा बदला वह तुरन्त देते हैं कि जब हम हर हाल में उनके पास ही 'उनमें' ही रहने लगें तो फिर भोगों से वे हमें नितान्त अछूता ही निकाल लेते हैं। इतना सजग 'वे' अपने कार्य में होते हैं, कि ईश्वर की याद का अवलम्ब जब वे कर्म और हमारे बीच में रख देतें हैं तो

फिर भौतिक-कर्मों की छाया (Reflection) उसे भेद नहीं पाती है, और क्रमशः संस्कार बनने समाप्त हो जाते हैं। उनको हर परिधि (Limitation) का अन्दाज होता है और वही अन्दाज वह हमको देते चलते हैं। भौतिक वस्तुओं का आकर्षण इन्द्रियों की जिस सीमा तक प्रवेश कर पाता है, जिस सीमा तक सुख-दुख की अनुभूति हमारे में प्रवेश करके हमें पीड़ा दे सकती है, या हमारे ध्यान को अपनी ओर खींच सकती है, उन सारी सीमाओं को 'वह' अपनी इच्छा शक्ति से तोड़ते चले जाते हैं। यहाँ तक कि भौतिक-आकर्षण जिस सीमा तक होता है अथवा हो सकता है, उस सीमित-सीमा को अपने वात्सल्य रस में डुबोये हुए वे हमें उस सीमित आकर्षण की छाया से भी परे ले जाते हैं। ध्यान की धारा में से वे भौतिकता को साफ करते हुए, हमारे कुल रुझान को ईश्वर-प्राप्ति के लक्ष्य में लय करके, ध्यान को स्थिर करे देते हैं। ध्यान की सतत्-धारा में सतत् रहनी पा जाने पर ही ईश्वर तक पहुँचाने का हमारा सहज मार्ग दृष्टिगत हो पाता है। फिर आगे मैंने देखा है कि 'वतन' अथवा अंतिम सत्य तक पहुँचाने वाले वे उस अनन्त योग-पथ में हमें अपने संकल्प में रहनी दे कर सहज ही समावेश दे देते हैं। यह असीम, दिव्य सत्य है जिसे देखा या अनुभव भी किया जा सकता है, किन्तु उसको पूरी तरह से लिख पाने को शब्द नहीं मिल पाते हैं।

ईश्वरीय देश की सीमा के पार सद्गुरु श्री बाबूजी से दिलेवर के वात्सल्य द्वारा ही पहुँच पाने में हम समर्थ हो पाते हैं। क्योंकि हमारा और उनका सामीप्य इतना गहन, गुड़ एवं शीरे की तरह से एक हुआ रहता है, जिसकी अनुभूति तो होती है लेकिन वर्णन नहीं

किया जा सकता है। जिस प्रकार गुड़ और शीरा अलग नहीं हो सकते हैं उसी प्रकार हम उनमें लय हुए रहते हैं। लय अवस्था की चरम सीमा में लय हो कर, जब वह अवस्था भी 'मालिक' में समा जाती है तब उसकी बक़ा दर बक़ा अर्थात परिपक्व अवस्था की परिपक्वता भी, उनमें प्रवेश पा कर दम तोड़ देती है। तभी वह सौभाग्य हमें प्राप्त होता है कि हम ईश्वरीय साक्षात्कार का परम आकर्षण भी छोड़कर महत् शक्ति रूप अपने श्री बाबूजी के संग ऐसे आगे चल पड़ते हैं, मानों जो कुछ भी अब तक देखा है वह अपना नहीं था। फिर भी सद्गुरु का साथ मँहगा नहीं लगता है, प्यारा ही लगता है; तभी तो अन्तिम सत्य रूप श्री बाबूजी भी साक्षात्कार की दशा से आगे (अन्तिम सत्य-भूमा) तक ले जाने में समर्थ हो पाते हैं। साँचे सद्गुरु के लिए मानवों को उनके अन्तिम सत्य का द्वार दिखाना कुछ भी कठिन नहीं होता है। कठिनाई तो वास्तव में समर्थ सद्गुरु को पाने में ही होती है। उसकी प्राप्ति हो जाने पर तो आत्मोन्नति-पथ की समस्त विषमताएँ दूर हो जाती हैं। हमारे आत्मिक विकास की समस्या का सहज समाधान सद्गुरु ही होता है। अपना मोक्ष (Salvation) तो उसी दिन हो गया समझ लेना चाहिए जिस दिन ऐसे सद्गुरु की प्राप्ति हो जाये, और मुक्ति-पद (Liberation) सद्गुरु के हृदय में समा जाने का सुन्दर परिणाम होता है। मानव के आत्मिक-विकास का द्वार तो सद्गुरु की प्राप्ति के साथ ही खुल जाता है। उनमें लय अवस्था की प्राप्ति के साथ ही हमारे अहं के प्रलय का समय भी आ जाता है। हमारी तमाम अन्तर-ग्रन्थियाँ सुलझ कर खुलना शुरू हो जाती हैं एवं

चक्रों की शक्ति जागृत होने लगती है। तब हम स्वयं देख पाते हैं कि आध्यात्मिक-विकास का द्वार हमारे लिए सहज रूप से खुला हुआ है। श्रेष्ठतम दिव्य-शक्ति के आदि रूप सद्गुरु की प्राप्ति के बिना ही तो हम नीचे गिरते चले आए हैं। अब 'उनके' बंधन-मुक्त, सौम्य मुख का दर्शन पाते ही हम पुनः ईश्वर-प्राप्ति के पथ पर तेजी से चल पड़ते हैं। सच तो यह है कि साक्षात्कार की घड़ी आते समय तक तो हम हममें से अलग हो चुके होते हैं, हमारी प्रलय हो चुकी होती है, इसीलिए सच यही है कि ईश्वर का साक्षात्कार वही कराते हैं क्योंकि स्वतः साधना करते हुए साक्षात्कार की घड़ी आती ही नहीं है। हमें अपनी प्राणाहुति शक्ति द्वारा, स्वयं का योग दे कर, ठोस अहं को पिघला कर बाहर कर देने वाले मात्र सद्गुरु ही होते हैं। यहाँ पर एक बात यह भी कहना जरूरी है कि साक्षात्कार भी हम सद्गुरू द्वारा प्रदान की हुई सूक्ष्म दृष्टि द्वारा ही कर पाते हैं। ईश्वर का साक्षात्कार हम पायें, यह सद्गुरु की महानता है लेकिन उससे भी परे भूमा तक पहुँचाना, जिसके बारे में हम नितान्त अनजान हैं, उस तक ले चलना सद्गुरु-रूप में धरती पर उतरी हुई दिव्य विभूति (Divine Personality) की ही कृपा का ऋण है जिसे कभी उतारा नहीं जा सकता है। सन्त कबीर ने भी "हद अनहद के बीच में, रहा कबीरा सोय" कह कर लेखनी को रख दिया था। हमने सद्गुरु को ईश्वर का साक्षात्कार पाने के लिए ही पाया था, किन्तु साक्षात्कार देना 'उनकी' महानता है। भौतिकता की राख में सने हुए हमें प्राणाहुति शक्ति द्वारा अपनी ईश्वरीय धारा से शुद्ध करके हमारे श्री बाबूजी अन्तर मे वैसा ही

दिव्य निखार उतार लाते हैं जो हमारे समूचे व्यक्तित्व को सहज-श्रृंगार प्रदान करता है। अपनी इच्छा शक्ति का अवलम्बन देकर आज उन्होंने साक्षात्कार की दशा को प्राणिमात्र के हित अपने सहज मार्ग द्वारा सम्भव कर दिया हैं। लेकिन जिसके बारे में कुछ भी पता नहीं हैं, जिस 'वतन' (भूमा) की राह एवं रीति किसी का भी हमें कहीं से कोई ज्ञान नहीं मिलता है, उसमें हमें केवल अपने अनुग्रह में भिगोते हुए, अपनी कृपा-शक्ति से खुद के संकल्प की राह में चला कर ले जाते हैं। उनका यह ऋण क्या कभी चुकाया जा सकता है? अपनी ओर से इस महत्-विभूति श्री बाबूजी का यह विशेष अनुग्रह, मानव-जाति में पुनः ईश्वर-प्राप्ति का जागरण लाने के लिए ही सम्भव हो सका है। समय को ईश्वरीय युग (सतयुग) में बदल देने के लिए ही दिव्य विभूति श्री बाबूजी का धरणी पर अवतरण हुआ है। इसीलिए मैंने सद्गुरु को दो महत् रूपों में देखा है, यानी ईश्वर के साक्षात्कार तक वह सद्गुरु के रूप में हमारे साथ होता है लेकिन उससे आगे अन्तिम सत्य तक ले जाने के लिए अपने दिव्य संकल्प रूपी डोली में बैठाकर ले चलने वाले महत् शक्ति के दाता दिव्य-विभूति के रूप में हमारे साथ रहता है। जब मैनें श्री बाबूजी महाराज को लिखा था कि कलम अब आपके लिए 'दिव्य विभूति' शब्द ही लिखती है। क्यों? यह आप ही जानें, तो उनका यह कथन कितना सरल एवं सरस था कि "बिटिया जो कुछ स्वतः ही लिखा जाए उस सत्य के लिए प्रमाण की जरूरत नहीं होती है, और तुम्हारे लिखने पर ही मुझे उस शक्ति का अंदाज हुआ है तो धन्यवाद तुम्हें दूँ या अपने को।" कहाँ मिलेगी

दिव्य-विनम्रता भरी उस सरल छवि की मिसाल। उनके लिए ही ये कुछ लाइनें मैं लिख सकी हूँ कि "दिव्यता भी हार जाती थी जभी देखे तेरा तुख, शलभ भी झूठे लगें, मर के जिये हैं फिर भला कब। हम तो मर कर जीते हैं, जो जीत बन तू मिल गया।"

सद्‌गुरु का जितना भी महत्त्व बखाना जाए उतना ही कम मालूम होता है। जैसे माता छोटे बच्चे को खिलौना पकड़ा कर घर के काम में लग जाती है, उसी प्रकार आध्यात्मिकता के क्षेत्र में आए अपने बच्चों को सद्‌गुरु ध्यान रूपी खिलौना पकड़ा कर हमारे ही काम, अर्थात आध्यात्मिक उन्नति कराने की तैयारी में लग जाते हैं। हम जब उनकी ही तरफ देखते रहते हैं, तो उस पावन रूप को देखने का परम लाभ हमें यह मिलता है कि हमें अपना रूप भूलना शुरू हो जाता है किसी सूफी संत का कथन है कि अगर आध्यात्मिकता का गुर सीखना चाहते हो तो गुरु के तसब्बुर में डूब जाओ। संत कबीर ने यों कहा है कि 'सद्‌गुरु' धारा निर्मल धारा, वामें काया खोई रे।' फिर धीरे से न जाने कब वे अपने रूप को हमारे सामने से खींच लेते हैं और हमारे अनजाने ही उनकी सूक्ष्म-मौजूदगी का एहसास हमें मिलने लगता है। स्थूल रूप के बजाय सूक्ष्मता का ही एहसास पलने लगता है। अब दो स्थितियाँ हमारे सामने रहने लगती हैं, एक तो लक्ष्य पर टिकी निगाह और दूसरी बदलती हुई दशाओं का अनुभव। इससे यही सिद्ध होता है कि लक्ष्य भी वास्तव में हमें गुरु ही पकड़ाता हैं, और पकड़ा भी वही सकता है जिसने उसको देखा है। ईश्वर की शक्ति, सर्व-व्यापकता एवं गरिमा को सद्‌गुरु ने ही पहचाना है। जहाँ तक हमारी पहुँच

नहीं, वहाँ अपना लक्ष्य बना भी लें तो राह पकड़ कर दृढ़ नहीं हो सकते हैं। वास्तव में प्यार भरे सद्गुरु के ध्यान में डूबे अनजाने ही हम उनसे योग पाने लगते हैं, एवं हमारी रहनी सहज ही वहीं होने लगती है, जहाँ हमारा सद्गुरु अथवा उद्गम है। सद्गुरु को कैसे पहचानें इसका अन्दाज भी इससे ही लग सकता कि उनके ध्यान मे डूबे हुए या लय हुए हम अपने को अथाह महसूस करने लगते हैं। अथाह गति का अनुभव समक्ष में पाने से समझ लेना चाहिए कि सद्गुरु अथाह और अनन्त है, एवं ईश्वर की ओर हमें ले जा सकता है। ऐसा मैंने जब स्वयं करके देखा तभी अनुभव में आया। सद्गुरु श्री बाबूजी के रूप में डूबते हुए, स्वयं के रूप के साथ ही धीरे-धीरे सारी दुनियाँ के रूप उनमें ही लय हो जाते हैं। अपना खुद का स्वरूप याद करने पर भी, कभी उभरता ही नहीं। अपना व्यक्तित्व लय हो जाने पर ही समस्त के लिए भी यह आभास होता है, कि एक ही परम-शक्ति समस्त में व्याप्त है। यदि सूक्ष्म एवं अव्यक्त-रूप का पसारा समक्ष में न हो तो समस्त में एक ही परम-शक्ति व्याप्त है ऐसी भी अनुभूति न होती, और न विराट्-रूप का आभास होता। यह लाभ बिना सद्गुरु रूपी समुद्र में डूबे किसी को न कभी मिला और न कभी मिल सकता है। संत वाणी भी यह कहती है कि अगर अपनी छाया से पीछा छुड़ाना चाहते हैं तो सद्गुरु के साए में आ जाएँ। सच ही, बिना सागर की गहराई में डूबे किसी को सच्चे मोती नहीं मिल सकते हैं। बिना खुद को खोये ईश्वर का पता पाना असम्भव है। खुद को खोने के लिए सद्गुरु रूपी सागर में बिना किसी ओर देखे छलाँग लगानी पड़ती है, और

लगानी ही चाहिए क्योंकि वह ईश्वर के भेद का ज्ञाता एवं शक्ति का भरपूर सागर है। मुझे श्री बाबूजी का एक वाक्य हमेशा याद रहता है। एक बार मेरे यह पूछने पर कि आपने जीवन में इतनी पूर्णता कैसे पाई है, उन्होंने केवल एक ही वाक्य कहा था कि "मेरी आँखों ने जिस दिन से अपने समर्थ सद्गुरु श्री लालाजी साहब (फतेहगढ़) को देखा, उस दिन से फिर किसी को नहीं देखा।" इस वाक्य की सत्यता व गूढ़ता में प्रवेश करते रहने की कोशिश ने एक दिन मुझे उक्त कथन के अर्थ ही गहराई में ढकेल दिया। वहाँ पर मैंने यही मृदुल एहसास पाया कि किन्हीं पावन एवं मृदु बाहों ने मुझे सम्हाल लिया है। उनके इस कथन की गहराई ने आध्यात्मिक गतियों के अनुभवों का सागर प्रदान किया, फिर इसकी और भी गहनता जब सामने आई तो अनुभव का सागर भी लय हो गया। इसके परिणामस्वरूप ही जो लिखा गया है, जो लिखा जा रहा है और जो फिर कभी लिखा जाएगा वही पुस्तक रूप में आज सबके सामने हैं।

आत्मिक विकास

प्राणिमात्र का आदि संकल्प अथवा प्रथम विचार, अपने आत्मिक विकास का ही होना चाहिए। जैसा कि पिछले अध्याय में मैं लिख चुकी हूँ कि कि जब हम गिलास में पानी भर कर फेंकते है तो पानी का मुँह हमेशा फेंकने वाले की ही ओर रहता है। इसी तरह संसार बनने के ख्याल में जब हम 'उससे' अलग हुए, तो स्वभावतः ही हमारा मुख अपने अलग करने वाले की ही ओर था, जिसका प्रमाण हमें सतयुग का वर्णन पढ़ने से मिलता है। अब भी जब हम आध्यात्मिक उन्नति करते-करते अपनी सहज-दशा में आ जाते हैं, तो हमें ऐसा अनुभव भी होता है कि हमारी विचार धारा अपने आदि (Origin) से ही सम्बन्धित है। हमारी आत्मिक उन्नति द्वारा यह दशा हमारे सामने स्पष्ट हो जाती है कि सतयुग में मानव ईश्वर के ध्यान में इस प्रकार रहता था कि चौथापन आते ही सहज ही जंगल में जाकर ध्यानावस्थित रहते हुए ही शरीर छोड़ देता था। अब इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि विचार को सतत-शक्ति अपनी आदि-धारा से ही मिलती है। इतना ही नहीं क्षोभ अथवा विचार द्वारा ही हम 'उससे' अलग हुए थे, वही सतत-शक्ति आदि से अलग होने के विस्तार में समाई रही अर्थात् हम उससे चिपटे ही रहे। यह अवश्य हुआ कि जब हम सांसारिक अथवा बाह्य आकर्षण से दबते गये तो उसका अक्स हमारे विचारों पर पड़ा और असली हालत यानी हमारे वास्तविक स्वरूप पर आवरण पड़ गया। इसका नतीजा यह हुआ कि एक बाह्य अक्स ने अपने ठहरने

के लिए स्थान बना लिया । फिर क्या होता? यही हुआ कि विचारों को वही आकर्षण अच्छा लगने लगा और आवरण पर आवरण चढ़ते चले गये। हमारे अन्तर की हालत पर भौतिक आकर्षण की रज पड़ते रहने से वास्तविकता धूमिल पड़ने लगी। फिर उस नतीजे का नतीजा यह हुआ कि जैसे तेज आँधी चलने पर रज-कण अर्थात् धूल हमारी आँखों में ऐसी भर जाती है कि आगे अँधेरा छा जाता है, और उजाले में रहते हुए भी हमारी आँखें खुल नहीं पाती हैं; उसी प्रकार हमारी शुद्ध दशा पर अँधेरा अर्थात् सांसारिकता का तम छा जाता है। विशुद्ध सत्य-दशा पर भौतिक आवरण का जब प्रभाव पड़ा तो तम रूपी भ्रम स्वतः ही वहाँ पहुँच गया। अब जब पुनः हमें अपनी वास्तविक या आदि-स्थिति में पहुँचने का स्मरण आता है तो हमें पुनः तम को हृदय से मिटा कर, ईश्वरीय प्रकाश में हृदय को डुबोये रखने से आवरण को हटाना सरल हो जाता है; जैसा कि सहज मार्ग साधना में श्री बाबूजी महाराज ने हमें ध्यान रखने को कहा है। इससे पता यही लगता है कि ध्यान ही आदि एवं वास्तविक साधना है। हृदय के शुद्ध होने से विचार भी शुद्ध होने लगते हैं। उधर सतत-स्मरण विचारों को शुद्ध करने में बेहद सहायक होता है। विचारों के शुद्ध होने से बुद्धि भी शुद्ध होने लग जाती है। बुद्धि के शुद्ध होने से अपने लक्ष्य के प्रति हमारा लगाव दृढ़ होने लगता है। लगाव की दृढ़ता हो जाने से हमें ईश्वरीय शक्ति का सहारा मिलने लगता है। किन्तु कौन पर्त-दर-पर्त के नीचे छिपे उस आदि सम्बन्ध का हमें स्मरण दिलाए? आज हृदय में समाई ईश्वरीय छवि का आभास कौन हमारे हृदय में भर सकने में समर्थ

है? इसके लिए हमें सद्गुरु श्री बाबूजी की जरूरत हुई जो अपनी प्राणाहुति-शक्ति का हृदय में प्रवाह देकर हमें लक्ष्य-प्राप्ति का स्मरण देते रहे हैं। फिर हृदय में मौजूद दिव्य छवि के आदि विचार को हममें चेतन कर देते हैं, जो 'उससे' सम्बन्धित रहता हुआ भी सुषुप्त अवस्था में रह जाता है? अपनी प्राणाहुति-शक्ति का धारा-प्रवाह हमारे मानस में देकर अपनी इच्छा-शक्ति द्वारा हमारे हृदय में सोई उस आदि शक्ति के अणु को थपथपा कर चेतन कर देने में समर्थ श्री बाबूजी मिलन की चाह को फिर से उभार-लाते हैं। जिसने अपने आदि का मुख देख लिया होता है, वही तो समर्थ सद्गुरु होता है। वही अपनी इच्छा शक्ति द्वारा विशुद्ध ईश्वरीय धारा का प्रवाह हमारे अन्तर में देकर अभ्यासी के बनाए हुए विकृत आन्तरिक स्वरूप को मिटा कर, ईश्वरीय प्रकाश से निखारते हुये सहज ही ईश्वरीय छवि अथवा 'उसकी' मौजूदगी के आभास में योग देने में समर्थ हो जाते हैं। हमारा आत्मिक विकास, हमारे विशुद्ध अन्तर पर पड़े पहले आवरण के हटते ही, अनुभव में आना शुरू हो जाता है। ईश्वर का कोई रूप-रंग नहीं है इसीलिए हममें से किसी में 'उसका' न रूप आया, न रंग आया है। यहाँ पर श्री बाबूजी का यह कथन सत्य प्रमाणित हो जाता है कि "अवतार ईश्वर के महामाया क्षेत्र से आते हैं, इसीलिए वैसी ही सूरत, अलौकिक रंग और शक्ति लिए हुए ही आते हैं। तभी अवतारों का दिव्य रूप एवं रंग एक समान होता है और स्वरूप में आकर्षण होता है। "वास्तव में वह आकर्षण स्वरूप का नहीं, बल्कि दिव्य शक्ति का होता है, तभी तो उनमें स्वतः आकर्षण होता है।

उन्होंने बताया कि ईश्वरीय शक्ति के केन्द्र (महामाया) का रंग आसमान के रंग की तरह हल्का नीला है; तभी तो अवतारों का स्वरूप आकर्षक एवं रंग वैसा ही होता है, जब कि प्राणिमात्र के रूप और रंग पृथक-पृथक हाते हैं। यही प्रमाण है कि ईश्वर की कोई सूरत न होने से उसकी दिव्य शक्ति अथवा 'उसके' अंतर से हमारा निर्माण हुआ है। "उसका" आदि संकल्प (प्रथम विचार) रचना में समान रूप में वितरित हुआ । आदि संकल्प एवं शक्ति की सामीप्यता ने पहले सत् (ईश्वरीय) युग को जन्म दिया। शक्ति का प्रवाह या संचार, संसार बनने के लिए ऊपर से नीचे की ओर हुआ तो शक्ति की जितनी दूरी 'उसके' केन्द्र से होती गई, और समय की दूरी भी मिल जाने के कारण, आदि संकल्प से हमारी दूरी बढ़ती ही चली गई। फलतः 'आदि' जितना ओझल होता गया तो 'सत्' में 'रज' का समावेश होता गया और युग बदलता चला गया। समय और शक्ति की दूरी ने हमें अपने वतन या उद्गम से इतना दूर कर दिया कि हमारे विचारों का बहाव अधोमुखी हो गया। हमने संसार रूपी सौंदर्य में उलझ कर विचार रूपी भँवर से अपना एक अलग संसार रच लिया। अब बाहर-भीतर एक समान अर्थात् संसार ही संसार नजर आने लगा। संसार रूपी रज हमारी आँखों में ऐसी समा गई कि 'तम' रूपी कालिमा प्रधान होकर ठोस हो गई। बाह्य आवरणों से अन्तर ऐसा जकड़ता चला गया कि हमारा वास्तविक सौंदर्य हमारे लिए अँधेरे में खो गया। हमारे विचारों में भी कालिमा व ठोसता इस प्रकार भरना शुरू हो गई कि हमने युग एवं वातावरण को भी कालिमा और ठोसता से भरना शुरू कर

दिया। फल यही हुआ कि एक दूसरे को खराब करने में लग गए, और जमाने को और भी बिगाड़ दिया। शक्ति एवं समय की दूरी ने शुद्ध विचारों के मध्य आवरण डाल कर 'आदि' से ऐसी दूरी पैदा कर दी कि मानों सम्बन्ध ही कट गया हो। इसका प्रभाव यही हुआ कि दूरी इस सीमा तक बढ़ी कि हमारे (मानव के) आपस के विचारों में भी टकराव पैदा होने लगा और आपस में दिलों की दूरी पैदा हो गई। जिस दिव्यता से दिल बना था वह रस ही सूख गया। जो दिल 'उसे' अर्थात् प्रियतम परमात्मा को चाहता था अब 'उसकी' बनाई चीज (दुनिया) को चाहने लगा। जिस दिल में 'उसका' सौंदर्य यानी दिव्य प्रकाश स्वतः ही मौजूद था, उस पर संस्कारों की पर्त जम कर अँधेरा छा गया। जो दिल परमानन्द में स्वतः ही डूबे रहते थे, वे दिल ईर्ष्या, द्वेष और मोह के फन्दे में उलझ गये। जिन विचारों में ईश्वर-स्मरण की ताजगी समाई रहती थी, उन विचारों में संसार के नश्वर आकर्षण समा जाने से वे बुझे से, मरे से, निर्बल बनते चले गए। कैसा बदलाव हो गया कि ईश्वर-अंश होते हुए भी दिल का रंग ही बदल गया। पहले अहं तेज हुआ, जिससे दिल इंसानियत की सीमा में आ गया। क्रमशः अहं में इतना घुल गया, यानी इस हद तक डूब कर खो गया, कि इंसानियत का रंग भी घुलने लगा और शैतानियत प्रधान होने लगी। अन्तर-शक्ति का ह्रास होते-होते विचार-शक्ति भी कमजोर हो गई। विचार शक्ति के निर्बल होने से बुद्धि भी संकुचित होने के साथ ही ठोस होती चली गई। अंतर के सौंदर्य का ह्रास होने से हमारे मानवीय शरीर के सौंदर्य व बनावट का सौंदर्य भी फीका

और निस्तेज हो गया। फिर समय का भी दुरुपयोग होने लगा। शक्ति जो बची थी, उसको भी हम सही दिशा-निर्देशन न दे पाए। इसलिए उसका भी दुरुपयोग होने से वह भी क्षीण होने लगी। फलस्वरूप अपने आदि स्वरूप से अलहदगी की सीमा पार हो गई और हमने अपने को उससे बिलकुल अलग मान लिया। दुःख इस बात का है कि खुद डूबे तो डूबे जमाने को भी साथ ले डूबे, और शैतानियत खुल कर खेलने लगी। हाथ को हाथ नहीं सूझा, और इन्सान को इन्सान नहीं सूझने लगा। परन्तु सहज मार्ग साधना का सहारा पाकर जब हम श्री बाबूजी की कृपा से आत्मिक विकास द्वारा पुनः साक्षात्कार की हालत में जा पहुँचते हैं तब यही लिखते हैं कि "वह तो जो है सेा है" अर्थात् हम ही उससे अलग होकर बिगड़ गये। और अपनी हालत के बारे में भी यही लिख पाते हैं कि अब हम वह हैं जो हमें होना चाहिये। साक्षात्कार की दशा में प्रवेश पाने पर मानव का पुनः सच्चा रूप निखर आता है। इसके पश्चात् जो भी हालत हमारे अनुभव में आती है वह ईश्वरीय ही होती है। अन्तर-बाहर समस्त में ईश्वरीय शक्ति का दर्शन हम पाने लगते हैं। कुछ पाना या खोना समाप्त हो जाता है। सतत समान-स्थिति ही रहने लगती है जो मानव के आत्मिक विकास पाने पर पुनः पुलक और निखर उठती है।

ईश्वर का कोई नाम नहीं है। बच्चा भी जन्म के समय कोई नाम लेकर नहीं आता है। जिनके घर बालक जन्म लेता है वे ही लोग उसे नाम देते हैं और उसी सम्बोधन को वह अपना नाम मान लेता है। कई आदमियों के नाम एक ही होते हैं लेकिन सूरतें, रूप

एवं करनी अलग-अलग उनके अन्तर स्थिति के अनुरूप ही होती है। जो जितना अपने असली रूप से अलग और दूर हो जाता है उसकी करनी उसके ही शुद्ध अंतर को झकझोर कर बुराई की ओर अग्रसर करती है और इसकी छाप, सूक्ष्म शरीर पर संस्कारों के रूप में पड़कर ठोस हो जाती है। अब सारे कार्य-कलाप बाह्य विकारों में ही सने हुए होने आरम्भ हो जाते हैं। कैसा विषम संस्कार हमारे शुरू और अन्त का होता है कि शुरू में जो नाम हमारे शरीर को 'नामकरण' के समय दिया जाता है, अन्त में उसी नाम और शरीर का दाह-संस्कार कर दिया जाता है। जिस परिवार में वह जन्मता है उस परिवार के लोग भी उसे मानों अपने परिवार से दाह कर देते हैं। अब तक न जाने कितने नाम, कितने रूप और कितनी सूरतें हमारी बदलती रही हैं। बस बदलती नहीं है, ज्यों की त्यों रहने वाली हमारी अन्तरात्मा, जो ईश्वर का अंश है। इसे उस समय का इन्तजार रहता है कि हमारे लिए कोई आत्मिक विकास की घड़ी लेकर आए और हम अपना वास्तविक मुख स्वयं देख सकें। अपनी श्रेष्ठ ज़ात (असलियत) को पहचानें और अपने वतन यानी अन्तिम-सत्य की ओर पुनः लौट चलें। मानव में पुनः श्रेष्ठतम विस्तार को लाने के लिए ही सद्गुरु श्री बाबूजी का अवतरण पृथ्वी पर हुआ है। प्रकृति 'इन्हें' इसीलिए धरती पर स्वयं उतार लाई है, कि प्राणिमात्र के लिए दिव्यविकास की घड़ी पुनः सुलभ हो सके। श्री बाबूजी महाराज अपनी प्राणाहुति शक्ति द्वारा मन की वृत्ति को अधोमुखी आसन से उबारकर उप-आसन पर स्थित कर देते हैं। वे अपनी अमोघ इच्छा शक्ति द्वारा समस्त

आन्तरिक शक्ति, एवं विचार-शक्ति को, वतन की वापसी यानी आत्मिक विकास की ओर मोड़ दे देते हैं। अभ्यासियों में उतारी हुई गति, इस बात की साक्षी होती है कि उनमें उस अनन्त शक्ति का केन्द्र समाया हुआ है। लगता है कि श्री बाबूजी की इच्छा में ही प्रकृति ने यह संकल्प रूपी संस्कार भर दिया है कि प्राणिमात्र को उनके दिव्य विकास के पथ पर पहुँचाए। उनकी उस दैविक इच्छा में दिव्य शक्ति की पूर्णता समाई हुई है। यही कारण है कि पग-पग पर हम यही अनुभव करते हैं कि जो भी इच्छा व गति जन की आत्मोन्नति के लिए उनके मन में आती है, उसका कार्य ईश्वरीय शक्ति द्वारा तुरन्त ही शुरू हो जाता है। एक नहीं अनेक बार स्वयं और अभ्यासियों के हित में मैंने पाया है कि अन्तर में बदलाव लाने के लिए, अन्तर में दिव्यता उतार लाने के लिए, जिन बातों की जरूरत होती है, उनकी इच्छा होते ही, हममें तुरन्त खिलना शुरू हो जाती हैं। अवसर है कि प्रकृति की इस अनुपम देन का, और समर्थ सद्गुरु श्री लालाजी महाराज द्वारा सँवारी इस दिव्य विभूति, श्री बाबूजी महाराज, द्वारा हम परम आत्मिक लाभ उठाएँ। कहते हैं कि जिसका सृजन हुआ है उसका विनाश होता ही है। यह परम सत्य, आत्मोन्नति के पथ में भी बढ़ते हुए अभ्यासियों में अनोखी दशा के रूप में इस प्रकार हमारे सामने आता है, कि ध्यान के द्वारा सृजन के रूप में एक ओर तो दिव्यता हममें भरती चली जाती है, दूसरी ओर विनाश हमारे अहम् का और सम्बंधित बातों का, जो कि आत्मोन्नति के पथ में बाधक हैं, शुरू हो जाता है। हमें जब से आध्यात्मिक उन्नति की दशा में स्थायित्व मिलता जाता है,

तब से अवगुण और भौतिकता का बराबर ह्रास होता चला जाता है। इसीलिए आत्मोन्नति का पथ तभी हमारे लिए सरल हो जाता है जब कि कोई दिव्य विभूति हमारे दिव्य उत्थान के लिए ही धरती पर अवतरित होती है, और अपनी प्राणाहुति-शक्ति द्वारा सहज ही हमें दिव्य विकास के पथ पर ला खड़ा करती है। श्रेष्ठ आत्मिक विकास की ओर अग्रसर होते हुए, एक परिपक्व हालत पर पहुँचने पर, प्रकृति के नियम भी हमारे लिए अपनी सीमा तोड़ देते हैं। यह जरूर है कि यह जानते हुए भी कि हम इनकी सीमा से परे हैं, फिर भी एक अलौकिक सदाचार के द्वारा जो सद्गुरु श्री बाबूजी हममें स्थापित करतें हैं, हम सहज ही नियमों का पालन करते हुये कर्तापन से अछूते रहते हैं। प्रकृति के नियमों की यह सीमा तभी हमारे लिए अपना बंधन तोड़ देती है, जब कोई 'उसकी' ही शक्ति पर अधिकार पाए हुए, मानव में दिव्य ईश्वरीय-गति को निखारते हुए, इसका संचालन इस तरह से करते हैं कि हम संचालन करने वाले सद्गुरू में लय अवस्था प्राप्त किये हुए, आत्मिक क्षेत्र में बढ़ते चले जाते हैं। सद्गुरु में लय रहने का ही यह परिणाम होता है कि 'उसमें' समाये हुए हम सभी सीमाओं को लाँघते, बन्धनों को काटते हुए, इस तरह बढ़ते चले जाते हैं कि खुद को ही वह होश नहीं रहता है कि हम कौन सी सीमा लाँध आए हैं। हाँ, काम पड़ने पर यह सत्य तुरन्त हमारे सामने आता है कि हम इस सीमा से परे हो चुके हैं। श्री बाबूजी महाराज भी जब मन होता है तो बता देते हैं, नहीं तो हमारी समझ बढ़ाने के लिए इसे हमारी अनुभूति पर ही छोड़ देते हैं। हमें आध्यात्मिक उन्नति के पथ पर बढ़ाते हुए,

वतन तक पहुँचाने के लिए वे इस हद तक सजग रहते हैं कि जब अनेकों अभ्यासियों के द्वारा रात बारह या एक बजे के लिखे हुए अपनी हालत के सम्बन्ध में पत्र उन्हें मिले, तो यही पाया कि श्री बाबूजी द्वारा लिखाये हुये पत्र भी उसी तारीख में रात को उसी समय लिखे हुए, उसी हालत को इंगित करते हुए ही थे। यह स्मरण करके आज भी मन इस तरह गद्‌गद्‌ हो जाता है कि क्या वे अपने बच्चों की उन्नति के हित इतनी रात गए तक जागते रहते हैं। उनका यह दिव्य प्यार, उनकी वह सजग निगाह, क्या कभी भुलाई जा सकती है? इतना ही नहीं, यही सजगता उनमें लय हुए अभ्यासियों में भी उतरती है। उनके पास जाने का सुअवसर मिलने पर तो सदैव ही बहुत रात गए तक भी मैंने अभ्यासियों की प्रगति का हाल और जिक्र ही उनसे सुना है। उनका यह कार्य केवल एक दिन का या एक रात का ही नहीं था, बल्कि यह सजगता उनके जीवन की श्वास का अंग बन चुकी थी। उनकी वही प्यार भरी दृष्टि आज भी हम धरती पर रहने वाले अभ्यासियों का पालन कर रही है। समय-समय पर इसका आभास हम सभी को मिलता रहता है। हमारी कमियों को कभी दोहराना नहीं, बल्कि ठीक करके उन्हें यही कहते हुए पाया है कि अमुक में यह जरा-सी ही कमी थी, बस यह मैंने ठीक कर दी। आज अभ्यासियों की उन्नति के लिए उनके द्वारा पाये प्यार एवं कृपा की राह सहज विकासमय हो गई है। ऐसी अनुभूतियाँ पग-पग पर मिलती हैं। इस जागरुक प्रहरी को देखकर नेत्रों में प्रेमाश्रु भर आते हैं। आज यह सत्य स्वीकारना है कि प्राणिमात्र के लिए आध्यात्मिक उन्नति का द्वार,

ध्यान की सहज साधना द्वारा, ईश्वर-प्राप्ति तक पहुँचा देने के लिए सुलभ हो गया है। इसी पावन उद्देश्य पूर्ति के हेतु ही ममत्वमय जागृत छवि के समान श्री बाबूजी पृथ्वी पर उतर आए हैं। हमारे मध्य, मानों वे ईश्वर की दिव्य, सजीव छवि के रूप में विराजमान हैं। लोगों का यह प्रश्न कि "इतनी शक्ति होते हुए भी वे कोई चमत्कार नहीं दिखा पाते हैं"। उसका उत्तर दैविक दृढ़ता के साथ मैंने हमेशा दिया है और देती रहूँगी, कि जो चमत्कार दिखाते हैं और दिखा सकते हैं, उनके लिए स्वाभाविक संज्ञा 'चमत्कारिक पुरुष' की ही आती है। उन्हें कोई 'सद्गुरु' या 'दिव्य विभूति' के रूप में नहीं पुकार सकता है। सद्गुरू श्री बाबूजी के लिए स्वभावतः हृदय यही पुकार उठता है कि उनका सत्संग व साथ, हमारी अन्तरात्मा पर पड़े आवरण को अपनी इच्छा-शक्ति से निवारण करके, हमें आत्मिक विकास के शिखर तक ले चलने की शक्ति रखता है। चमत्कार खुद की कमाई है जबकि आध्यात्मिकता खुद को खोकर या समर्पण कर देने पर ही हममें खिल उठती है। चमत्कार में फँस गए तो फिर अब कितना समय हमें जागने में लगेगा, कौन कह सकता है? राह भटक जाने पर हमें जगाएगा कौन, कौन हमें हमारी वास्तविक हालत पह पहुँचाएगा, आत्मा को इसकी प्रतीक्षा रहती है। स्वयं में दिव्य विकास प्राप्त करने पर स्नेह का एक उभार (जज्बा) समस्त के उद्धार के लिए स्वतः ही उमड़ने लगता है। यद्यपि श्री बाबूजी ने समस्त वातावरण में पवित्रता एवं शान्ति के कण भर कर, समस्त जनों को आत्मिक विकास की दिशा में वंचित नहीं रहने दिया है, फिर भी जब हमारे हृदय उनसे

योग पा जाते हैं उस दशा की जितनी भी प्रशंसा की जाए थोड़ी है। इस महान् विभूति श्री बाबूजी की प्रशंसा लेखनी से परे है। जब तक मुझमें देखने की क्षमता नहीं थी तब तक मुझे ऐसा नहीं लगता था। आज हम सभी उन ईश्वर की परम शक्ति को समेटे हुए, एवं इच्छा-शक्ति द्वारा मानव के दिव्य उत्थान के लिए श्री बाबूजी के सहज मार्ग द्वारा, अपने परम विकास का लाभ उठाएँ। जब हम सद्गुरु श्री बाबूजी के स्वरूप रूपी माध्यम में लय होकर अपनी आत्मिक उन्नति करते हुए ईश्वर की सामीप्यता की दशा को प्राप्त करते हुए अपने पूर्ण आत्मिक विकास द्वारा वास्तविक अस्तित्व में प्रवेश पा जाते हैं, तो फिर हमारे सारे पूर्व संस्कार, नाम, काम, रूप एवं बनने का कारण, सभी सामान समाप्त हो जाता है। श्री बाबूजी की कृपा से अपने जीवन काल में ही जब हम परम गति का लाभ उठाते हैं, तभी हमें समझना चाहिए कि सद्गुरु ने हमें अपना लिया है, और उस आदि तत्त्व पर जहाँ से हम आए हैं, पहुँचने की शुभ घड़ी ला दी है। इसके पश्चात् जो हमारे सद्गुरु श्री बाबूजी हमें देते हैं, वह उससे भी परे अनन्त की यात्रा में शामिल है।

आत्मिक विकास से लेकर, साक्षात्कार तक की समस्या का समाधान कर पाने वाले की संज्ञा सद्गुरु की होती है, किन्तु इसके पश्चात वतन (Central Region) में प्रवेश दे कर भूमा (Ultimate) तक ले चलने वाले श्री बाबूजी तब दिव्य विभूति के रूप में ही धरती पर उतर कर दर्शन देते हैं। सद्गुरु की प्राप्ति के साथ ही 'अपनी मोक्ष (Salvation) हो गई' समझना चाहिए, क्योंकि मुक्ति अवस्था (Liberation) सद्गुरु प्राप्ति का सुन्दर परिणाम होता है।

मानव की आध्यात्मिक-उन्नति एवं विकास का द्वार तो सद्गुरु-प्राप्ति के साथ ही खुल जाता है एवं ईश्वर-प्राप्ति भी हमारे लिए सम्भव हो जाती है, जब उनके 'सहज मार्ग' की सहजता में हमारे डग प्रवेश पाकर बढ़ चलते हैं। उनमें लय-अवस्था प्राप्त हो जाने पर तो तमाम अन्तर-ग्रन्थियाँ सुलझ कर खुल जाती हैं। अपने में समाई ईश्वरीय शक्ति को पीठ देकर ही तो हम नीचे गिरते चले आए थे, अब उस बन्धनमुक्त, सौम्य शक्ति श्री बाबूजी का योग पाते ही हम पुनः ऊर्ध्व मुख होने लगते हैं। सच तो यह है कि 'उनका' साक्षात्कार या साँचा दर्शन, हृदय में पाने के साथ ही हम स्वयं के बन्धन से मुक्त होकर, दिव्य शक्ति के सहित, भीतर-बाहर समस्त विराट में फैल चुके होते है। कहना यही पड़ता है कि 'उनका' दर्शन सद्गुरु ही कराते हैं, क्योंकि हमारे अहं के हाजिर रहते हुए दर्शन या साक्षात्कार की घड़ी आती ही नहीं। हमें, हमसे मुक्ति दिलवाने वाले, हममें से हम (अहं) को ही निकाल कर उद्धार की घड़ी लाने वाले मात्र सद्गुरु श्री बाबूजी ही हैं। वे दिव्यता को पढ़ाने वाले ही नहीं, बल्कि अपनी प्राणाहुति शक्ति द्वारा हममें आत्मिक विकास को उतार कर लक्ष्य तक पहुँचाने वाले हैं। आत्मा के परमात्मा से मिलन के बाद, धरती पर फिरते प्राणी को हिरण्यगर्भ की यात्रा पर इस प्रकार ले जाना, कि जहाँ एक ओर तो हमें ऐसा लगता है कि सूर्यचन्द्र, धरती-आकाश, वायु, सब मेरे ही बनाए हुए हैं और विश्व मानों मेरे ही अन्दर पल रहा है, तो दूसरी ओर इस अनुभूति में पगे रहना कि उनमें ही रह कर यह दिव्य-नजारा 'उनकी' ही दृष्टि से देख रहे हैं। यह कैसा अद्भुत आश्चर्य होता है। इस पर भी दृष्टि कहीं रुकती नहीं, थकती नहीं है,

वरन् समक्ष में बढ़ चलने को व्यग्र रहती है। इसे चैन कहाँ, और कैसे मिले, जब तक यह गहन समाधि-अवस्था सहज न हो जाए। सहज समाधि तभी हमारी हो पाती है, जबकि हमारा प्रवेश समक्ष में व्याप्त ईश्वरीय देश, या ईश्वरीय गति के सूक्ष्म एवं सहज पसारे में ही हो जाता है; क्योंकि ईश्वर नितान्त सहज और सूक्ष्म है तब सहज ही सहज स्वरूप हुए हम, हिरण्यगर्भ की दशा के सहित, स्वतः ही ईश्वर के गर्भ में समाने लग जाते हैं। यों भी कह सकते हैं कि सहज-समाधि की पूर्ण दशा में लय हुए, हमारी यात्रा ईश्वरीय देश अथवा केन्द्र में प्रारम्भ हो जाती है। यह दैविक चमत्कार श्री बाबूजी का ऐसा होता है कि कब, कैसे और क्या होता है इसका पता ही हमें नहीं लगता है। परन्तु जब ईश्वरीय गति हममें उतर आती है अथवा समाने लगती है तब हमें अपना स्वयं का स्वरूप भी वैसा ही दिव्य मालूम पड़ने लगता है। तभी हमें कोई यह एहसास दे जाता है कि हम कहाँ हैं परन्तु हम कौन हैं, इसके बारे में तब हमसे कोई पूछे । श्री बाबूजी द्वारा पकड़ाई लेखनी, उनकी कृपा द्वारा बख्शी हुई हर ईश्वरीय गति एवं यात्रा के विषय का विवरण तो देगी ही, किन्तु 'हम' (खुदी) (Self) जो हमसे ही परदा कर गया है, उसके बारे में क्या बताया जाए कि वह क्या है? अब जब सूक्ष्म समाधि भी सहजता को प्राप्त कर, सहज समाधि अवस्था के रूप में हमारे समक्ष व्याप्त हो रहती है, तब हम यही लिखने लगते है कि "बाहर-भीतर, समस्त में सहज दशा एवं गति का ही साम्राज्य फैला हुआ है।" ईश्वरीय देश में रहनी हो गई तो फिर विकास भी साम्य ही तो होगा। साम्य-गति तो एक दशा है, परन्तु यह साम्यावस्था समस्त में व्याप्त ईश्वर की अवस्था

है; अर्थात् अब सहज-समाधि अवस्था के रहते हुए, ईश्वरीय विकास हममें विकसित हो उठता है। हम ईश्वरीय गति से सँवरने लगते हैं। यह विकास हमें उस स्तर तक सँवार लाता है, जबकि ईश्वर का साक्षात्कार हमारे लिए सम्भव हो जाता है। यह सँवारना तो हमारे बाबूजी का होता है, किन्तु साक्षात्कार पाने पर सहज समाधि सहज ही साक्षात्कार में लय होना प्रारम्भ हो जाती है। सहज में, सहज ही, लय रखते हुए मालिक श्री बाबूजी, हमें ईश्वरीय शक्ति में प्रवेश दे देते हैं। अब बारी आती है खुद ईश्वर की, कि इसकी बका (परिपक्व अवस्था) हमें वह प्रदान करे। वह परमशक्ति हमें कैसे अपने में मिला लेती है कि अलौकिक आश्यर्च होता है कि हम खुद को ईश्वर कहें या किसे ईश्वर कहें, कुछ भी समझ में नहीं आता है, क्योंकि तब कोई महत् शक्ति का नक्श मन में एवं समक्ष में उभरता ही नहीं है। मानों यह कोई विशेष अवस्था ही नहीं है, इतनी सहज अवस्था में सद्गुरु श्री बाबूजी ढाल देते हैं। कितना महत् कार्य वे कितनी सहजतापूर्वक पूर्ण कर देते हैं, कि हमें हमसे छीनकर ईश्वर के साम्राज्य में प्रवेश ही नहीं देते हैं, बल्कि खुद ईश्वरीय सत्ता में ही प्रवेश देकर लय भी कर देते हैं। कैसा दिव्य रूप वे अपना हमारे समक्ष प्रकट करते हैं, कि ईश्वर में प्रवेश देकर शेष बचे शुद्ध अहं को स्वयं में ही लय कर लेते हैं। इतना ही नहीं, फिर हमें हमसे ही नहीं, बल्कि ईश्वर से ही माँग लेते हैं, और फिर जड़ समाधि में (जो सहज समाधि की अविचल अवस्था है), हमें पालते हुए दिव्य अवस्था में प्रवेश दे देते हैं, अर्थात् जिस महत् घर (Region) का वर्णन श्री बाबूजी ने अपनी पुस्तक में केन्द्र-मण्डल (Central Region) के

रूप में किया है, उसमें प्रवेश देकर मानों अपना घर हमें रहने को दे देते हैं। बस खुद साथ रहते हैं, यह भी एक अलौकिक भेद है। किन्तु भेद क्या है? जैसे हमें हमारे न होते हुए भी, अपने द्वारा लिखित निगेशन (Negation) की हालत में रखते हैं, वैसे ही खुद न रहते हुये भी साथ रहने लगते हैं। यहाँ श्री बाबूजी महाराज के लेखन का भेद, कि निगेशन क्या है हमारे समक्ष स्पष्ट हो जाता है। बस प्रथम तो आत्मिक विकास, परमात्म-विकास में पल कर, फिर ईश्वरीय विकास में खिलकर, दिव्य विकास में पलने लगता है, फिर अन्तिम सत्य की यात्रा के लिए अपने श्री बाबूजी के साथ चल पड़ने की तैयारी हो जाती है। अब कलम इसके आगे की यात्रा भी सबके समक्ष स्पष्ट करने के लिए अवश्य तैयार है। मानव के आत्मिक विकास की जितनी भी अवस्थाएँ सम्भव हो सकती हैं, श्री बाबूजी सबको ही उतारते हुए, निखारते हुए, दिव्य विकास में पलने के लिए ले आते हैं। सहज समाधि, प्रेम, भक्ति, ज्ञान, बुद्धि, हृदय, एवं विचार के समस्त आधार ईश्वरीय सागर में ही विलीन हो जाते हैं। हमारे होने का आधार भी मिट जाता है। श्री बाबूजी का कथन अब समक्ष से व्याप्त हो जाता है, कि परमसत्य आधार रहित आधार है और उनका प्रिय कथन भी स्पष्ट हो जाता है कि "अब क्या है, देखो तो असलियत, ओढ़ो तो असलियत, बिछाओ तो असलियत।" समस्त में असलियत का ही पसारा व्याप्त रहता है। मानव का आत्मिक विकास पूर्ण गति को प्राप्त हो जाता है। विकास का अब पटाक्षेप हो जाता है।

सहज गति

समस्त संसार आज अपनी सहज गति को छोड़ कर कृत्रिमता के आवरण को ओढ़े हुए है। सहज स्वाभाविक प्रकृति-छटा का प्रायः लोप ही हो गया है। हर बात में बनावटीपन, रहनी में दिखावा और बाह्य तथा अन्तर दशा में छलना, मानव की एक आदत-सी बन गई है। बाह्य और अन्तर में असामञ्जस्य पैदा हो गया है और यह बराबर बढ़ता ही जा रहा है। यह अमामञ्जस्य केवल, इसलिए है कि यह समझते हुए भी कि हमारी क्या इच्छा है, हमारे अन्तर की भावना कैसी है, हम बाह्य की रहनी में नितान्त उसके विपरीत ही समाज को खुश करने के लिए रहना शुरू कर देते हैं। यहाँ पर यह कहना आवश्यक है कि हम समाज के लिए दिखावा करते हैं क्योंकि उसके लिए अपनी गति, अपनी मति, अपनी रहनी सभी कुछ बदल देते हैं। परन्तु समाज केवल इकाई है। यह किसी से जुड़ता नहीं है। जब स्वयं हम ही इससे दहाई बनकर जुड़ जाते हैं तब हमारा खुद का ही मूल्य बदल जाता है। यह समाज तो ज्यों का त्यों रहता है। यहाँ तक कि हमारी गति एवं बुद्धि बाह्य को पढ़ते-पढ़ते अपना स्वाभाविक गुण ही छोड़ देती है, जो कि परम रचयिता ईश्वर के गुणों से सम्बद्ध रहने का तथा अपने स्वाभाविक निखार से सम्बन्धित रहने का था। इतना ही नहीं बाह्य लगावों की गहराई में बिल्कुल डूबे हुए से जब हम रहने लगते हैं तो वह प्राकृतिक, विशुद्ध अवस्था जो ईश्वर से सम्बन्ध दृढ़ रखने में समर्थ थी तथा सहायक कड़ी के रूप में सदैव रहती थी, क्रमशः उससे

दूर होते-होते हम बाह्य अस्तित्व में ही जीना आरम्भ कर देते हैं। सहज मार्ग साधना द्वारा बढ़ती हुई साम्य अवस्था की चरम सीमा में ही हम मन की सहज गति पा जाते हैं अथवा यों कहिए कि साम्य-गति आगामी सहज गति की आगाज होती है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि हम जो एक तरफा अपने ठोस अस्तित्व में ही जीने लगते हैं, अब पुनः दिव्य एवं पूर्ण अस्तित्व की प्राप्ति हेतु प्रयत्नशील हो जायें। इसके लिए सर्वप्रथम हमें सहज गति एवं सहज-बुद्धि की परम आवश्यकता होती है। सद्गुरु का स्मरण हृदय में भर कर बार-बार अपनायत भरी मौन पुकार एवं प्रतीक्षा करते रहने से हमारे अन्तर और बाह्य का आवरण, रहनी का छलावा अथवा बनावटीपन साफ होना शुरू हो जाता है और हृदय में साम्य-गति का निखार विकसित होने लगता है। प्रथम तो इसका आभास हमें ऐसे मिलता है कि बाह्य सुख-दुख की स्थिति में जब भी हमारी दृष्टि अन्तर में जाती है तो मानों वहाँ कोई हलचल ही नहीं होती है। हृदय ज्यों का त्यों शान्त बना रहता है। क्रमशः यह साम्य-गति हमारे अन्तर के कण-कण में फैलती जाती है। तब अन्तर-बाह्य का आवरण झीना पड़ते-पड़ते ऐसा साफ हो जाता है कि फिर यह तथ्य हमारी अनुभूति में प्रत्यक्ष हो उठता है कि 'बाहर-भीतर एक समान'। वास्तव में तभी से हम अपनी सहज गति में जीना आरम्भ करते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि साम्य-गति सहज गति के आने का संकेत होती है। ईश्वर से पूर्ण योग पाए हुये सद्गुरु की प्राण-शक्ति ही "हमारे जीवन की रहनी पूर्ण अस्तित्व को प्राप्त करे," इस योग्य बना देती है। ईश्वरीय

शक्ति पर आधिपत्य पाए हुए सद्गुरु की इस अलौकिक इच्छा में कि प्राणि मात्र ईश्वर का साक्षात्कार पाएँ, जब हम अपनी इच्छा का योग, कि 'हमें साक्षात्कार हो' दे देते हैं, तभी से हमारा अधूरा एवं एकतरफा जीवन समाप्त होकर सहज गति (पूर्णता) की ओर मोड़ ले लेता है। साधना कोई भी हो जब तक उसमें बनावट, दिखावा या बाहरी साज-सामान का समावेश रहता है, तब तक उसे साँची साधना नहीं कहा जा सकता है। बल्कि इन्हें साँची साधना को उभार लाने का साधन कहने में भी हिचक होती है। ईश्वर के ध्यान में निमग्न साधक बाह्य साधन का सहारा न ढूढ़ करके निरन्तर ईश्वर से योग पाने की साध में स्वयं को भुला बैठता है। ईश्वर से योग पाने के लिए साधक की साधना ध्यान में रत रहना ही होती है। हृदय में ईश्वरीय प्रकाश में डूबे रहने का विचार जब लिया जाता है, जो कि सहज मार्ग की साधना पद्धति में बताया गया है, तो इसका प्रभाव पहले विचार एवं बुद्धि पर पड़ना प्रारम्भ हो जाता है अर्थात् ईश्वरीय-प्रकाश में डूबे रहने के विचार द्वारा विचारों की शुद्धि के साथ ही बुद्धि की शुद्धता भी प्रारम्भ हो जाती है। इस प्रयत्न में हमें एक अनोखी आन्तरिक खुशी भी मिलना शुरू हो जाती है। इसका कारण यही होता है कि विचारों के द्वारा वह विशुद्ध रस क्रमशः बुद्धि में एकत्रित होने लगता है। फलतः एक दिन ऐसा आता है कि जब स्मरण द्वारा विचार स्वतः ही इस आनन्द में डूबे अथवा पगे से रहने लगते हैं तब विचारों का अक्स फिर बुद्धि पर नहीं पड़ता है, अर्थात् बुद्धि को लक्ष्य की ओर एकाग्र रखने के लिए हमें अब स्मरण का अवलम्बन नहीं लेना

पड़ता है। बल्कि स्वतः एक पावन, ईश्वर के अपनत्व की मिठास, विचार और बुद्धि में घर कर जाती है हमारी दृष्टि उनमें ही समाई रहती है। तब हमें विचार और बुद्धि दो अलग-अलग चीज नहीं मालूम पड़ते हैं। जैसे रसगुल्ला तैयार करते समय पहले उसके सामान को तैयार करना पड़ता है फिर उसे पागने के लिए चाश्नी तैयार की जाती है। जब रसगुल्ला तैयार करके इसमें डाल दिया जाता है और वह चाश्नी को चूस लेता है तब दोनों मिलकर एक परिपक्व चीज अर्थात् मिठाई तैयार हो जाती है। इस प्रकार दोनों का अस्तित्व एक होकर ही एक पूर्ण वस्तु तैयार होती है। ऐसा ही हाल विचार और बुद्धि का समन्वय होने पर हो जाता है। ध्यान की सहज साधना अपनाने पर विचारों को उसमें डुबोए रहने का अभ्यास, बुद्धि में सहजता अथवा स्वाभाविक गुणों का समावेश देने के साथ ही साध्य के प्रति प्रेम रस का समावेश भी देती रहती है। विचार तथा बुद्धि का समन्वय भी हुआ रहता है। ईश्वर का साक्षात्कार पाने के लिए 'उसका' ध्यान ही सहज साधना हो सकती है, इसका विश्लेषण मैंने अपनी प्रथम पुस्तक 'दिव्य देश का दर्शन सहज मार्ग के दर्पण में किया है। अनुभव के आधार पर मैं यह कह सकती हूँ कि आज के इस बनावटी युग में, मानव के बनावटी जीवन में सहजता का संचार लाने के लिए 'सहज मार्ग' का योग प्रकृति की ही एक विशेष देन है। समाज का सहज सौन्दर्य बनाए रखने के लिए, वातावरण में सहजता का निखार लाने के लिए, एवं मानव-जीवन के बनावटी संयोग को रोकने के लिए ही प्रकृति की यह देन सहज मार्ग के रूप में श्री बाबूजी के द्वारा पृथ्वी

पर उतरी है। प्रकृति सदैव अपना संतुलन बनाये रखना चाहती है। जब वातावरण इसके विपरीत फैलाव पाने लगा तभी उसे आवश्यकता हुई कि बुद्धि की असाम्य गति अथवा अस्वाभाविक रहनी को रोकने के लिए धरती पर आध्यात्मिक विकास का जागरण पुनः भर उठे। खुद को ही छलते हुए मानव-समाज को उसके वास्तविक अस्तित्व का दिव्य दर्शन कराने के लिए सहज मार्ग में सम्पन्न ध्यान रूपी सहज, सूक्ष्म साधना का धरती पर प्रसारण हो जाए यह प्रकृति की अपेक्षा है। इतना ही नहीं अशान्ति के वातावरण में कोई शान्ति का दीप जला कर पथ-भ्रष्ट मानव-जाति का सही मार्ग-दर्शन कर सके, ऐसे दिव्य महापुरुष की भी संसार को आवश्यकता थी, जो संसार के प्राणियों के मन-प्राणों में बैठकर समस्त वातावरण के साथ ही समस्त के अन्दर शांतिमयी विशुद्ध ज्योत्सना अपनी प्राणाहुति द्वारा भर सके। ऐसे दिव्य महापुरुष की प्यास जब पृथ्वी को हुई तभी अपनी परम इच्छा शक्ति से प्राणिमात्र के अन्तर में सोई विशुद्ध चेतन-शक्ति को जागृत कर पाने की क्षमता सहित, मानव को उसकी सहज गति का स्मरण दिला कर सही मोड़ दे सके, ऐसे समर्थ दिव्य पुरुष को पृथ्वी पर भेजने की 'आदि-शक्ति' को आवश्यकता हुई। इसके प्रसाद रूप ही हमारे 'श्री बाबूजी महाराज' का पृथ्वी पर आविर्भाव हुआ। ध्यान के द्वारा विचारों को शुद्ध करते हुए, हृदय में विद्यमान ईश्वरीय प्रकाश में मन को डुबोए रख कर, मानव के पुनः उद्धार का सहज तरीका लेकर वे आये हैं । उनकी पावन प्राणाहुति का प्रसाद पाकर बुद्धि पर पड़ा आवरण उतर जाता है और हम अपनी सहज गति की ओर

अग्रसर होने लगते हैं। हम क्या हैं, हमें क्या करना चाहिये इस-लक्ष्य के प्रति सजग हो उठते हैं। उनके द्वारा दिव्य ईश्वरीय धारा का प्रवाह पाकर हम अपने अन्तर को सजीव व सशक्त पाने लगते हैं। अंतर-चेतना के जागृत होने पर हमारी समझ में यह आने लगता है कि यह संसार वास्तव में रचयिता का शृंगार यानी बनावट है। ऐसी सत्य-गति के जागृत होने के फलस्वरूप जब हमारे बनावटीपन का आवरण साफ हो जाता है तभी हम इस संसार के वास्तविक स्वरूप अथवा ईश्वरीय सौन्दर्य को फैला हुआ देख पाते हैं। फिर धीर-धीरे विचार और मन के रचयिता के ध्यान में पगे रहने लगते हैं। रचयिता (ईश्वर) की छवि अंतर में भरती, पुलकती और बढ़ती चली जाती है। अब यह सत्य भी प्रत्यक्ष हो जाता है कि वास्तव में ईश्वर के प्राकृतिक सौंदर्य को हम 'उसके' ध्यान में डूबे रह कर, अपने में दिव्यता का समावेश पाकर ही निरख पाते हैं। अब पता लगता है कि हम 'उससे' कितनी दूर हो चुके हैं कि हमें अपनी सहज गति एवं सहज सौंदर्य की भी याद नहीं है, तब से आध्यात्मिक मार्ग के लिए उन्मुख हुए हम उलझे दिल-दिमाग का बोझ न लेकर ध्यान रूपी सहज साधना के पथ पर आरूढ़ हो जाते हैं। वास्तविकता तो यह है कि ध्यान को हम यदि साधना कहें तों इसकी तह में घुसने पर यह सही नहीं बैठता क्योंकि ईश्वर तो वह प्रिय सत्य है जिसका ध्यान हमें सहज ही रहना चाहिए एवं जिसको प्राप्त करना हमारा परम कर्त्तव्य है।

आध्यात्मिक सुगन्ध सभी में विद्यमान होती है, यह पैदा नहीं होती है। आत्मा पर आवरण पड़े होने के कारण हमें इसका

अनुभव नहीं होने पाता है। जब हम किसी ऐसी साधना का चयन करते हैं जो हमें बाह्यमुखी न रख कर अन्तरमुखी करके लक्ष्य की ओर निहारने के लिए प्रेरित करती है, तभी एक दिन अभ्यासी में वह आध्यात्मिक-सुगन्ध सहज ही उमड़ती चली आती है। क्रमशः ध्यान द्वारा श्री बाबूजी महाराज की प्राणाहुति में डूबे हुए अन्तर के संकुचित बन्धन पिघलने लगते हैं और हमारा फैलाव स्वयं से मुक्ति पाते हुए विराट में होने लगता है। फिर अन्तर की इस दशा की झलक हमारे बाह्य पर भी छाने लगती है। फलतः हमें बाह्य में भी शुद्धता एवं दिव्यता का अनुभव होने लगता है। जब तक हमारी रहनी बाह्य में फैली होती है तो बाह्य दशा की छाया हमारे अन्तर पर पड़ती रहती है और आन्तरिक विशुद्ध दशा पर आवरण पड़ते चले जाते हैं। यहाँ तक कि हमारे मन, बुद्धि एवं विचारों पर भी वह बाह्य दशा (भौतिकता) ऐसी छा जाती है कि विशुद्ध आत्मिक प्रकाश से विमुख हुए अनजाने में ही हम हैरान और परेशान रहने लगते हैं। साक्षात्कार का परम लक्ष्य जीवन में अपनाने से, फिर निरन्तर उस ध्यान में ही डूबे रहने से, अन्तर की पावन दशा एवं प्रकाश हमारे बाह्य में फैलने लगता है। आन्तरिक ध्यान द्वारा उनकी (श्री बाबूजी की) कृपा की दिव्य धारा में डूबे हुए सच पूछो तो धीरे-धीरे हम अपने में ही घुल-मिल कर, अपने आपको छोड़ कर, अपने से ही बैरागी होकर, कभी न लौटने के लिए चल देते हैं। विशुद्ध साधना का यही भेद है जो हम पर खुलता चला जाता है। आध्यात्मिक-क्षेत्र में दिव्य प्रकाश से हमारे हृदय प्रकाशित रहें, और हमारे कदम हमेशा उन्नति की ओर बढ़ते रहें, इसके लिए

श्री बाबूजी की प्राणाहुति शक्ति का सम्बल हमारे लिए आवश्यक है। दूसरी आवश्यकता है कि आलस को त्याग कर ईश्वर-प्राप्ति का सुदृढ़ लक्ष्य हृदय में अपनाएँ। लक्ष्य का स्मरण बार-बार विचार द्वारा तेजी से अपनाते रहने से हमारी दृष्टि एकांगी हो जाती है। फिर 'उसकी' प्राप्ति के निश्चय को बार-बार हृदयंगम करते रहने से हृदय में 'उसके प्रति सतत लगाव-सा रहने लगता है। यही लगाव श्री बाबूजी महाराज के द्वारा ईश्वरीय धारा का सतत् प्रवाह पाकर पनपने लगता है। लक्ष्य का स्मरण विचार में दृढ़ता ले आता है, और लक्ष्य को पाने के निश्चय द्वारा मन में दृढ़ता का समावेश हो जाता है। परिणामस्वरूप लक्ष्य के प्रति लगाव, राग को उत्पन्न करता है। लक्ष्य को पाने का निश्चय, अन्तर को तदनुरूप ही बनाना प्रारम्भ कर देता है। जैसे-जैसे लक्ष्य के प्रति लगाव और रुचि बढ़ती जाती है, विचार और हृदय दोनों ही एक रूप हुए अन्तर में डूबे से रहने लगते हैं। उसका एक लाभ तुरन्त ही हमें यह मिलने लगता है कि हमें स्वयं का विस्मरण रहना प्रारम्भ हो जाता है। या यों कहें कि स्वयं से स्वयं के त्याग की स्थिति प्रारम्भ हो जाती है, जो आगे चलकर विशुद्ध वैराग्य की गति को जन्म देती है। लक्ष्य की प्राप्ति के प्रयत्न में डूबा अन्तर तथा सतत-स्मरण के प्रयत्न में डूबे विचार एक दिन योग की वह घड़ी ले आते हैं कि विचार एवं मन में केवल 'वह' यानी लक्ष्य (ईश्वर या सद्गुरु) ही रह जाता है, अन्य चीजें मिट जाती हैं। ऐसे विचार जो योग की स्थिति में विघ्न डाल सकें, उठते ही नहीं हैं। क्रमशः हम स्थूलता से सूक्ष्मता की धारा में अपने को बहता हुआ पाने लगते हैं। आगे

उन्नति करने पर यह दशा इतनी सहजता को प्राप्त हो जाती है कि इसको स्मरण रखने का विचार लाना भी हमें भारी लगने लगता है। सूक्ष्मता को भी विचार में न भर पाने पर, हम दशा की सहज गति में रहते हुए शाश्वत शान्ति एवं सहज गति का आनन्द पाते रहते हैं। दशा को विचार में भर लाने के प्रयत्न पर हमें लगता है कि मानों हम इस स्थिति से हट जाते हैं। विचार का बोझ भी सहन न कर पाने पर स्मरण और विचार के साथ ही हम सद्गुरु में लय रहते हुए मानों ईश्वर के सन्निकट ही रहने लगते हैं। इस तरह विचार और मन में से हमारे अहं का नक्शा धुल जाता है। आध्यात्मिक क्षेत्र में लय-अवस्था की सहज गति की प्रप्ति पर ही यह कहा जा सकता है कि अब हम पूरी तरह से लक्ष्य के प्रति समर्पित हो गए हैं। इतना ही नहीं, इसका पता हमें इस गति के अनुभव से मिलता है कि उठते-बैठते, सोते-जागते जब भी हमे 'उसका' ख्याल आता है तो हमारी मौजूदगी का पता हमें 'उसमें' ही मिलता है, अलग नहीं। अर्थात् हम अपने ठीक ठिकाने पर आ गए हैं, इसकी दृढ़ता हमें मिलने लगती है। स्थित-प्रज्ञ हुए सहज गतिमय अन्तर को लिए, श्री बाबूजी के कथनानुसार 'कुतुब' की हालत पर जा खड़े होते है; वह ऊँचाई जो अभ्यासी अपनी लय-अवस्था द्वारा 'मालिक' की कृपा से प्राप्त कर लेता है। जब हमारी यह दशा हो जाती है कि सोते-जागते सदा हमें अपने ठिकाने का ही आभास मिलने लगता है तो हमारी गति ईश्वर-प्राप्ति (God Realisation) की ओर सीधी हो जाती है और अन्तिम सत्य (Ultimate Reality) का लक्ष्य जो श्री बाबूजी ने हमें दिया

है, उसका आभास कहीं न कहीं अन्तर्मन में सजग होने लगता है। सहज मार्ग अब एक दिव्य धारा के रूप में हमारे समक्ष व्याप्त हो जाता है जिसका सम्बन्ध अपने 'आदि' से हुआ लगता है। अब इस सहज और सीधी ईश्वरीय धारा में हम सहज ही प्रवेश पा जाते हैं। सहज गति में लय हुए मानों वही हमारा स्वरूप हो जाता है। एक सत्य यह भी अब प्रत्यक्ष हो गया है कि श्री बाबूजी महाराज ने हर हालत पर मुझे लिखा है कि "वहाँ तक तुम्हारी पहुँच है। प्रथम तो तुम्हें आत्म-गति की प्राप्ति मिल गई, फिर परमात्म गति में लय-अवस्था पाकर ईश्वरीय देश में पहुँच कर उस ईश्वरीय गति की महक पा रही हो।" जब मैंने उन्हें लिखा था कि "मेरा स्वरूप ही मानों आत्मा का हो गया है, फिर परमात्मा का हो गया है और अन्ततः ईश्वरीय देश में ईश्वरीय गति की महक मिलने लगी है।" उसके बारे में 'उन्होनें' यही लिखा था कि "मालिक का धन्यवाद है कि पाई हुई गति में तुम्हारी लय-अवस्था होती जा रही है और उस पहुँच की हालत की शक्ति की मिल्कियत भी तुम्हें मिल रही है।" अन्ततः हर अवस्था अपनी सहज गति या अवस्था को प्राप्त हो जाती है। इसका अर्थ यही है कि प्राप्त गति में लय-अवस्था प्राप्त कर लेना उस स्थान की शक्ति पर आधिपत्य प्राप्त करना है। हमारा अभ्यास तो पाने के लिए होता है, आधिपत्य उसका सहज परिणाम होता है। इसीलिए फना अथवा लय में हम जीवित रहते हैं किन्तु बका उसकी परिपक्व अवस्था अथवा सहज अवस्था होती है जिसमें हमें जीवित रहने का होश नहीं मिलता है। श्री बाबूजी ने अपनी 'अनन्त की ओर' नामक पुस्तक में ग्रन्थियों

का वर्णन किया है। इसकी प्रत्यक्षता मैंने यही पाई है कि प्रत्येक आध्यात्मिक स्तर पर पहुँच जाने पर उसमें लय-अवस्था प्राप्त कर लेने पर उस स्तर की ईश्वरीय शक्ति भी हममें इस तरह से प्रवेश पाती है मानों हम अब इस शक्ति के मालिक हैं। सत्य ही जब ऐसा होगा तभी तो दूसरों को भी हम इसी प्राप्त हुई ईश्वरीय शक्ति द्वारा इस स्तर तक की पहुँच दिलाने में सहायक हो पायेंगे अन्यथा राह ही बता सकते हैं। ऐसी श्रेष्ठ गति पाने पर फिर कार्यों एवं सुख-दुख का प्रतिबिम्ब तक वहाँ नहीं पहुँत पाता है, और हमारे श्री बाबूजी का वह कथन कि 'जमीन का साया सूर्य तक न पहुँच पाए' ऐसी दशा सहज ही हमारी हो जाती है। अब, जब जमीन ही हमसे छूट गई तो इसके आमोद-प्रमोद, सुख-दुःख की छाया से भी हमारा अन्तर अछूता रहने लगता है, तब हम श्री बाबूजी के उस कथन को अपने में चरितार्थ पाने लगते हैं कि "मैं चाहता हूँ कि रूहानियत में सब आफ़ताब ही निकलें।" सच ही आध्यात्मिकता की ऐसी गति की प्राप्ति होने पर हम जिधर भी निकल जाते हैं उधर ही पावन एवं दिव्य प्रकाश फैल जाता है। कुछ ऐसा समाँ बँध जाता है कि सच पूछो तो आध्यात्मिकता का साँचा एवं सतत्-आनन्द हमें ऐसी ईश्वरीय गति अथवा दशा पर पहुँचने पर ही मिल पाता है। हम तो ऊपर की ओर मुख किये (ऊर्ध्वमुखी गति पाए) मंजिल (ईश्वर) की ओर टकटकी बाँधें उसी ओर देखते रहते हैं और ईश्वरीय छवि हमारी ओर झुकी हुई मानों हमें ही निहारने लगती है। परमानन्द का ऐसा अन्दाज पाकर आनन्द अपनी सीमा को लाँघने लगता है। जिह्वा मौन हो जाती है क्योंकि उसे इस रस को

व्यक्त कर पाने के लिए शब्द नहीं मिल पाते हैं और हमारे अन्तर में अव्यक्त गति सहज ही प्रगट हो जाती है। बाह्य दृष्टि जड़ हुई रहती है क्योंकि जो दिव्य दर्शन अन्तर्दृष्टि पा रही है, उसके समक्ष बाह्य चक्षुओं में मानों अँधेरा छा जाता है। अब कहना न होगा कि परम आनन्द की सहज गति में प्रवेश पाने पर बुद्धि, विचार और रहनी सब में ही एक सहज-सी विशुद्ध अथवा उज्जवल साम्यता उत्पन्न हो जाती है। तभी से मैं कह सकती हूँ कि वह 'शाश्वत-शान्ति' जिसकी प्राणि मात्र को खोज करना चाहिए और जो उसे चाहिए ही, जिसके बिना वह कितने समय से व्याकुल है, परेशान है, बार-बार संसार के व्यूह में फँसता-निकलता, चक्कर काटता रहता है, अब अपने सहज शाश्वत रूप में उभर आती है। जब तक बाह्य और अन्तर की गति में साम्य न होगा तब तक हमारे दो रूप होने के कारण हमें शान्ति मिल ही कैसे सकती है। जब हमें इस साँचे रूप का पता मिलता है तभी असलियत का प्रतिबिम्ब जो शान्तिमय है, हममें घर करने लगता है। ऐसी सहज गति पर आकर ही हम सही अर्थ में लिख पाते हैं कि "जीवन है साम्य-समाधि, सहज गति से चलता ही जायेगा।" इतना ही नहीं "पावन हो धरा जिधर जायें" हम ऐसी ही सत्य दशा में लय होने लगते हैं। कैसी सहजता है सहज-मार्ग की, कि हम एक दशा में लय होते हुए जब उस दशा की सूक्ष्मता तक लय हो जाते हैं तब फिर मानों यह दशा ही अपना स्वरूप हो जाती है और इससे आगे सूक्ष्म दशा का प्रसार हमें समक्ष में मिलने लगता है। जब हम उसमें भी लय हो जाते हैं उस दशा की सूक्ष्मता तक, तब उससे भी सूक्ष्म

दशा सहज ही सामने आती है। इसी क्रम से डूबते, लय होते, मिटते हुए, दशाओं का भी मूल आधार मिटाते हुए, एक दिन हम सूक्ष्मता की सीमा को भी लाँघ जाते हैं। फिर हमारी लय अवस्था के भी लय हो जाने की बारी आ जाती है क्योंकि जिसकी वजह से या जिसमें लय-अवस्था थी, वह वजह या वह 'मालिक' ही उभर कर समक्ष में प्रगट हो जाता है।

जिस सहज गति की ओर मैंने इंगित किया है, उसकी प्राप्ति हमें तभी हो सकती है, जबकि हमारी साधना का चुनाव ऐसा हो जिसको अंगीकार करने पर हम अपने ही अहं के बोझ से हल्के होते जाएँ । फिर अभ्यास के बोझ से भी हल्के होते हुए उसकी तह में ही डूबना या लय होना शुरू कर दें। सहज-मार्ग साधना के अन्तर्गत ईश्वरीय प्रकाश के ध्यान में सतत् डूबे रहने की पद्धति जो हमारे श्री बाबूजी महाराज ने बताई है, उसमें डूबे रहने के अभ्यास का परिणाम यह होता है कि ध्यान में थोड़ा पैरने पर ही, अथवा गहराई में पहुँच जाने पर, हमारे द्वारा इसका अभ्यास फिर कठिन हो जाता है। क्योंकि तब हम ध्यान में डूबे रहने के अभ्यास में ध्यान को विचलित हुआ पाने लगते हैं। ऐसी हालत में जो अभ्यास, हालत की इस सूक्ष्मता से मिलता-जुलता, या इससे सूक्ष्म होता है, वह अभ्यासी के बिना जाने स्वतः ही होने लगता है। बहुधा श्री बाबूजी महाराज अभ्यासी के मन को अपनी इच्छा-शक्ति द्वारा ब्रह्मांड मण्डल की दशा में डुबो देते हैं, अर्थात् उससे आगे की गति में गोता दे देते हैं; इस कारण स्वतः ही मन ईश्वरीय अनुभूति में रमा रहने लगता है। इसका काम मैंने यह पाया है कि

ब्रह्मांड मण्डल की दशा में जो पिण्ड देश की दशा से हल्की और सूक्ष्म होती है, जब ध्यान द्वारा डूबे रहने का प्रयत्न करते हैं, तो उस दशा का अनुभव हमारी वर्तमान दशा से सूक्ष्म एवं स्वच्छ होता है जिससे कुछ न कुछ दिव्यता की झलक भी हमें अपने में मिलने लगती है। दूसरा लाभ यह भी होता है कि समक्ष में, सूक्ष्म दशा के समान, हमारी ग्रहण करने की क्षमता भी उसके अनुरूप ही बढ़ने लगती है। दिव्यता का आकर्षण बाह्य से परे हृदय-स्पर्शी एवं शक्ति सम्पन्न होता है। इसलिए हम उससे मिल-जुले रहने को बाध्य रहते हैं। शनैः शनैः श्री बाबूजी महाराज की प्राणाहुति द्वारा ब्रह्माण्ड मण्डल की दशा में डूबा हुआ मन उस स्थान की दिव्यता एवं शक्ति से सम्पन्न होने लगता है। फलस्वरूप मन की गति अधोमुखी रहने की अर्थात् दुनिया में डूबे रहने की कम होते-होते, एक दिन संसार की ओर उतनी ही रह जाती है, जितनी कि जीवन के लिए आवश्यक है। सहज मार्ग में श्री बाबूजी अभ्यासी को सहज गति से ले चलते हैं, जिससे उनकी पावन प्राणाहुति की शक्ति हर [illegible] और मालिक के बीच की ठोसता (Grossness) एवं गन्दगी को हटाती हुई, एक स्वच्छ-सा मार्ग बनाती चलती है, जिसे हम स्वयं भी अनुभव कर पाते हैं। हमारा लक्ष्य ईश्वर प्राप्ति होने के कारण मन की स्थूल से सूक्ष्म अवस्था आने तक वह तय किया हुआ मार्ग, वह भारीपन जिसे पार कर वह सूक्ष्म हालत में आया है, उसका आधार (भौतिकता) भी मिटता चला जाता है। इतना ही नहीं श्री बाबूजी महाराज की इच्छा-शक्ति की सूक्ष्मता एवं प्राणाहुति अपने में प्रवाहित पाकर जब हमारे अन्तर का भारीपन

एवं भद्दापन साफ हो जाता है, और हम आध्यात्मिक गति की सूक्ष्म दशा में प्रवेश पाते हैं, तो उसमें आगे की सूक्ष्म हालत का पसारा हमें समक्ष फैला हुआ मिलता है। पीछे का आधार मिट जाने से हालत सदैव आगे की दशा की सूक्ष्मता को पाकर, मालिक के दिव्य प्रकाश से अन्तर को प्रकाशित रखती है। आगे बढ़ने की चाह क्रमशः ऐसी तीव्र होती चलती है कि वह अपनी सहज गति यानी तड़प में हमारे अनजाने ही परिणत हो जाती है। परन्तु हम तो अहं का आधार मिट जाने से अपने में ही उमड़ी तड़प को तब अपनी तड़प कह कर नहीं पुकार सकते हैं, अथवा यों कहें कि ऐसी सहज गति हो जाती है कि तड़प भी है और लक्ष्य प्राप्ति की आकांक्षा भी किन्तु हम खो जाते हैं। इसे शुद्ध रूप में यों भी कह सकते हैं कि हम (जीव) अपनी सहज गति को प्राप्त हो जाते हैं।

सहज मार्ग योग का मार्ग है। यह भक्ति, ज्ञान, प्रेम एवं दिव्यता सभी के मिश्रण का श्री बाबूजी की दिव्य प्राणाहुति शक्ति युक्त, ईश्वर से मिलाने का पूर्ण योग मार्ग है। योग मार्ग में अपना भिदाव अन्तरिक्ष होता जाता है क्योंकि यह अन्तर का सत्संग, ईश्वर का संग प्रदान करता है। प्राणों से प्राण का सत्संग है और आत्मा से परमात्मा का मिलन है। सहज मार्ग साधना द्वारा अभ्यासी का भिदाव एवं फैलाव अंतरिक्ष ही होता जाता है। बाह्य पूजाओं में हमारा भिदाव और फैलाव बाह्य में होता जाता है और हम बजाय घर जाने के घर से दूर होते चले जाते हैं। साधना अन्तर्मुखी होने से अभ्यासी का भिदाव एवं रहनी भी आन्तरिक होती चली जाती है। एक दिन आत्मा का द्वार खुल जाता है और आत्मा के सहज

प्रकाश से हमारा अन्तर स्वतः प्रकाशित रहने लगता है। सद्गुरु की कृपा से जब आत्मा की दिव्य दशा में हमारी लय अवस्था शुरू हो जाती है तब परमात्मा का द्वार भी हमारे मिलन के लिए सहज ही खुल जाता है। पश्चात् उस परम साक्षात्कार की दशा में प्रवेश पा कर, अपने श्री बाबूजी महाराज में लय रहते हुए अभ्यासी अन्तिम सत्य तक पहुँचने को, उनके इस श्रेष्ठ संकल्प रूपी सहज मार्ग की सहजता के अन्तिम चरण की ओर अग्रसर हो जाता है। उनके महत्-संकल्प में लय होकर ही वास्तव में हम सत्य की प्रत्यक्षता में प्रवेश पाते हैं, जिसका जिक्र श्री बाबूजी ने अपनी पुस्तक में किया है।

मन की सहज-शक्ति एवं सहज गति को निखार लाना ही सहज मार्ग की मुख्य विशेषता है। श्री बाबूजी महाराज द्वारा बताये हुए ईश्वरीय ध्यान में रहने के अभ्यास द्वारा जब ध्यान की गहराई में अभ्यासी पैठता जाता है, तो बदली हुई मनः स्थिति अर्थात् आध्यात्मिक प्रगति भी पहले तेज प्रवाह के रूप में प्रतीत होती है क्योंकि वह हमारे अहं से मिलती-जुलती ही अनुभव में आ पाती है। तभी हमें यह मालूम होता है कि यह हमारी गति है। फिर आई हुई गति अपनी सहजता को अर्थात् सूक्ष्मता को प्राप्त होने लगती है। क्रमशः उसमें लय रहने के कारण हम भी उसकी सहज एवं सूक्ष्म गति में प्रवेश पा जाते हैं। जब हालत अपनी सहजता को प्राप्त होकर सतह तक पहुँच गयी, तो फिर दूसरा स्तर आना ही होता है। अपनाई हुई आध्यात्मिक गति को आने वाली सूक्ष्म गति में डूबना ही होता है, तभी वह अपनी सहज गति को प्राप्त हो

जाती है। एक आश्यर्च इसमें और हो जाता है कि आगामी गति में दिव्य एवं सूक्ष्म गति होती है, जो कि तुरन्त ही हम पर ऐसी छा जाती है कि हमें लगता है कि हमारे अन्दर शक्ति का प्रवाह आ गया है। इससे ईश्वर प्राप्ति की दिशा में गति में तीव्रता एवं तड़प बढ़ जाती है। एक समय ऐसा आता है कि सहज सुखद परमानन्द एवं सूक्ष्मता जब अपनी सीमा तक पहुँच जाती है, और वह प्रेम व भक्ति जो आध्यात्मिक क्षेत्र में ईश्वर-प्राप्ति के लिए सहायक होती है, वे सब भी अपनी सहजता को प्राप्त होकर लय होना शुरू हो जाते हैं। क्योंकि श्री बाबूजी तो हमें इससे भी आगे "भूमा" तक ले जाना चाहते हैं, तभी हम इनसे भी परे अपने को पाने लगते हैं। इतना ही नहीं तब हम गति, चाल, विचार और बदलती हुई मनः स्थितियों से भी परे सहज गति में प्रवेश पा जाते हैं। मन भी 'आदि शक्ति' के पसारे में विलीन हो जाता है। मन का कार्य समाप्त हो जाता है, या यों कहिये कि वह दिव्य अणु (Spark of Reality) जो मन के रूप में हममें विद्यमान था, अब अपने "आदि" में ही मिल जाता है। अब यही अनुभूति रहती है कि हमारा प्रवेश दिव्यता (Divinity) में हो गया है। अब ईश्वर-प्राप्ति का लक्ष्य भी मौन हो जाता है। समस्त में हमारा फैलाव व्याप्त लगने लगता है। फैलाव के विषय में मैंने अपनी पुस्तक "दिव्य देश का दर्शन सहज मार्ग के दर्पण में" लिखा है। लेकिन यह फैलाव है क्यों? वास्तव में हम ईश्वर में विलीन हो जाते हैं और उसी की व्यापकता में फैल जाते हैं, और यह मिलन की स्थिति है। तब हम एक सहज रूप में, सहज गति में प्रसारण पा जाते हैं जिसमें कि

हमें होना ही चाहिये। साक्षात्कार को पाकर श्री बाबूजी की कृपा से जब ईश्वरीय-गति में भी हमें बका (परिपक्व अवस्था) मिल जाती है, एवं उसके विराट या पसारे में फैलाव जितना कि होना चाहिये हो जाता है, तभी हम यह कह पाते हैं कि हमें ईश्वर-प्राप्ति (मिलन) की अनुपम गति प्राप्त हो गयी है। परन्तु तब उससे भी उबार कर उस परमानन्द का हमें साक्षी रखता हुआ, हमारे मुख को आगे अन्तिम सत्य की ओर कौन मोड़ दे देता है, इसका हमें पता ही नहीं लगता है। जल में कमल के पत्ते की तरह उस रस को भी न भोग कर, हम केवल साक्षी रूप में रह जाते हैं। अब अपनी गति के सम्बन्ध में कह पाने के लिए "दिव्य" के अतिरिक्त कोई उपयुक्त शब्द ठहरता ही नहीं हें। दिव्यता हमारे मिलन का अन्तिम सत्य होता है, इसलिये दिव्यता न लिखकर केवल दिव्य कहा जाय तभी इस हालत की अभिव्यक्ति सही रूप में हो पाती है। दिव्य न भारी है न हल्का है, न स्पर्श की चीज है, न भोग की चीज है; वह तो "जो है सो है"। साक्षात्कार पाने का अर्थ है अपने आपको किसी के रूबरू (आमने-सामने) खड़े पाना। प्राप्ति का अर्थ है उसमें पूर्णरीत्या मिल कर एक हो जाना।

आध्यात्मिक क्षेत्र में हर पाई हुई अवस्था, अपनी सहज-अवस्था को प्राप्त हो जाती है जो तुरीयावस्था की संज्ञा में आती है। किन्तु शाश्वत्, शान्तिमय, सहज गति अर्थात् तुरीयातीत अवस्था का विशेष महत्त्व होता है। वैसे भी संतों ने तुरीयातीत अवस्था का महत्त्व विशेष रूप से गाया है। इसकी प्राप्ति सद्गुरु द्वारा पाई प्राणाहुति की शक्ति के द्वारा, एवं उनकी प्यार भरी निगाह के नीचे पलते रहने पर ही

साधक को सुलभ हो पाती है। ऐसा हो भी क्यों न जबकि "उनके" ध्यान में निरन्तर लय रहने के सतत् अभ्यास द्वारा एक दिन सद्गुरु श्री बाबूजी की कृपा से अन्तर-मन को ध्यान में लय रहने की आदत पड़ जाती है। यहाँ तक कि हम अपने लय हुए ध्यान को स्वयं भी विचलित कर पाने में असफल रहते हैं। हृदय में ध्यान रखने का जो तरीका श्री बाबूजी ने बताया है उससे अन्तर्मुख हुआ हमारा मन ईश्वर में लय रहना सीख लेता है। श्री बाबूजी महाराज से पाई हुई प्राणाहुति-शक्ति ध्यान में लय अवस्था प्राप्त करा पाने में सहायक होती है। जितना ही हम ध्यान में डूबते जाते हैं, हमारा अन्तर मानों गहन में लय होता चला जाता है। इस लय अवस्था के प्रसाद से हम अनुभव कर पाते हैं कि हमारा अन्तर, सद्गुरु श्री बाबूजी से जुड़ा हुआ सा रहने लगता है। मानो सदैव ही हमें कुछ मिलता जाता है। एक दिन यह सत्य प्रत्यक्ष हो जाता है कि लय-अवस्था में रहते हुए, ईश्वर-मिलन की दशा में भी लय रहते हुए, एक दिन हममें सहज गति का समावेश हो जाता है। लय-अवस्था में हम अपने में दो स्थितियाँ साथ चलती हुई पाते हैं। बदलती हुई मनः स्थितियों में प्रथम तो स्थिति का, उसकी शक्ति के सहित समावेश होता है, फिर उस पाई हुई स्थिति की भी सहज अवस्था का अनुभव हमें मिलता है अर्थात् आई हुई गति अपनी सहजता को प्राप्त हो जाती है। उसका तेज सत्य-अवस्था अर्थात् वास्तविक अवस्था से भारी होने के कारण, उस गति की साम्यता में समा जाता है। जब गति अपनी सहजता को प्राप्त हो जाती है तो फिर उसमें स्वतः ही हमारा भिदाव होता जाता है। उस अवस्था के सहज- सौंदर्य का अपने में निखार पाकर, उस

स्तर की साम्य गति हममें उत्पन्न हो जाती है। हाकिम (मन) के हथियार छोड़ते ही प्रजा अर्थात् इन्द्रियाँ भी उसका अनुसरण करती जाती हैं। यहीं पर यह ध्रुव सत्य प्रत्यक्ष हो जाता है कि ईश्वर का अंश दिव्य अणु रूप में हम सभी में विद्यमान है। श्री बाबूजी महाराज द्वारा बताई गयी सहज मार्ग साधना में हम हृदय में उसे ही ईश्वरीय प्रकाश मान कर इसी का ध्यान प्रारम्भ करते हैं। तो प्रथम सिटिंग (ध्यान-आरम्भ) से ही, उनकी दिव्य-शक्ति हृदय में विद्यमान उस अणु का विकसित रूप ले आने के लिए, उस पर चढ़ी हुई धूल रूपी आवरण का भेदन करके, स्वच्छ करना प्रारम्भ कर देती है। हृदय जितना स्वच्छ एवं पावन होता जाता है उतनी ही ईश्वर की छवि उसमें उज्जवल हो उठती है। जितनी ज्यादा चाह अन्तर में बढ़ती जाती है, उतनी ही शीघ्र उस दिव्य अणु का फैलाव होना शुरू हो जाता है। इसका परम लाभ हमको यह होता है कि अंतर के कण-कण की भौतिकता उस सहज प्रकाशित अणु के सम्पर्क से पिघल जाती है और सम्पूर्ण हृदय ईश्वरीय प्रकाश से प्रकाशित हो उठता है। आगे चल कर एक कण दूसरे कण से मध्य में आई जिस भौतिक ठोसता के कारण अलग हो गया था, वह भौतिक ठोसता ईश्वरीय प्रकाश के सम्पर्क से पिघलना शुरू हो जाती है। इस प्रकार से वह प्रकाशित-अणु अपना फैलाव प्रारम्भ कर देता है। जब कण-कण के बीच की ठोसता पिघलती जाती है, तो उसकी दिव्य विशुद्धता हमारे में छा जाती है। अब ऐसी हालत हो जाती है, कि जो ईश्वरीय-प्रकाश का ध्यान हमने हृदय पर उस दिव्य-अणु की उपस्थिति से प्रारम्भ किया था, वह समस्त में फैल कर हमारे कुल में

छा जाता है। इसके अनुरूप ही ईश्वर-प्राप्ति की हमारी चाह भी हमारे कुल में इस तरह व्याप्त हो जाती है कि वह चाह ही हमें हमारा स्वरूप मालूम होने लगती है। अब हमें अनुभव होता है कि हम कुल से "उसे" पुकार रहे हैं और हमारा कुल ही, आँख बना हुआ "उसके" मनोहर आविर्भाव को, अपने में भर लेना चाहता है। अंतर का यह सारा परिवर्तन इतनी शीघ्र और सहजता से होता जाता है कि कण कण में सहजता ही भर जाती है। इतना ही नहीं ध्यान की सहजता एवं स्थिरता के साथ ही अंतर-दृष्टि का फैलाव एवं स्वच्छता व्यापक होती जाती है। दृष्टि के व्यापक हो जाने के कारण फिर जब हम ध्यान करते हैं तब हमें लगता है कि मानो हमारा कुल अणु-अणु एक से दूसरे में ही योग पाता हुआ मात्र हृदय ही बन जाता है और यह बात सिद्ध हो जाती है कि हम योगी हैं। मैंने यह देखा है कि प्रत्येक अणु के मध्य की ठोसता (भौतिकता) जो उसे वास्तविकता से अलहदा किए हुये थी वह कहाँ गयी, कब पिघल कर बह गयी, कुछ पता नहीं रहता है। सम्पूर्ण हृदय एवं एक-एक धड़कन मानो प्रीतम को ही पुकारता है। अब जो ईश्वरीय प्रकाश हम उस दिव्य-अणु से पाते थे, उसे अपने विशाल हृदय में पाने लगते हैं। इतना ही नहीं अब हमारे अंदर से पवित्रता का प्रकाश चारों तरफ बिखरने लगता है। दूसरी ओर हमारा स्मरण जो ध्यान रखने में लय रहता था वह भी अपना पृथकत्व समाप्त कर के ध्यान में ही समा जाता है। स्मरण अपनी सहज गति को प्राप्त हो जाता है अथवा यों कहें कि स्मरण जो ध्यान में डूबे रहने में हमें सहायक था, उसका कार्य पूरा हो जाता है। तभी से हमें यह पता नहीं लगता कि हमें कभी स्मरण आता है

या नहीं, वरन् अंतर सतत् ध्यान में ही डूबा रहने लगता है। ध्यान जब अपनी सीमा को पार कर लेता है या सहज गति में रहने लगता है तभी उसकी भी लय-अवस्था हमें प्राप्त हो जाती है। लय-अवस्था प्राप्त कर लेने पर जिस सीमा तक हम कर सकते हैं, अंतर में एक ऐसी दैविक सजगता स्वतः ही उत्पन्न हो जाती है, जो कि हमारे अन्तर की सुरक्षा इस प्रकार से करने लगती है कि हमारी दिव्य अन्तर-दशा किसी तरह से भी विचलित नहीं होने पाती है। यह सजगता ही लक्ष्य प्राप्ति की तड़प को और श्री बाबू जी महाराज के उस संकल्प की दृढ़ता को कि लोग ईश्वर प्राप्ति कर सकें अभ्यासी से ऐक्य कर देने के लिए बेचैन हैं। उसके ही फलस्वरूप सतत् ही हमें लगता है कि मानो दो आँखें सदैव हमारे अन्तर को देख रही हैं। यहाँ मैं एक बात यह कहे बिना न रहूँगी कि अनेकानेक साधन पथों से गुजर कर मैंने यही पाया है कि आंतरिक-साधना यानी मन का ध्यान में रत रहने का अभ्यास, और सद्गुरु से पाई प्राणाहुति-शक्ति के बिना लय-अवस्था यानी मन के ईश्वर में स्वतः ही लयलीन रहने की दशा उत्पन्न नहीं होती है। सहज मार्ग साधना में श्री बाबूजी के ध्यान में ध्यानावस्थित रहने के अभ्यास से, और उनकी प्राणाहुति-शक्ति का सहारा पाकर अभ्यासी में लय-अवस्था सहज ही उत्पन्न हो जाती है। साधना की सहज गति लय-अवस्था का ही सुन्दर परिणाम होती है। एक और विशेषता है कि श्री बाबूजी महाराज की यौगिक प्राणशक्ति, और प्राणिमात्र के आत्मिक कल्याण के कार्य का दृढ़ संकल्प, उनकी इच्छा-शक्ति को सहज ही हमारे हित में लय रखती है। यही कारण है कि जब हमारी इच्छा एवं संकल्प, ईश्वर प्राप्ति की

दीवानगी से भर उठता है , तो सहज ही हममें लय-अवस्था का योग हो जाता है । इतना ही नहीं? जब तक धुर अथवा लक्ष्य तक हमें पहुँचा नहीं देती, हमें चैन नहीं लेने देती है। हम तो केवल ध्यान में डूबे रहने के अभ्यास में रत रहते हैं, किन्तु हमारी अन्तर-दशा एक से दूसरे, दूसरे से तीसरे स्तर तक, बड़ी सहजतापूर्वक श्रेष्ठ गति तक लय-अवस्था द्वारा ही बढ़ती चली जाती है। जब तक दशा और चाल (गति) की सीमा नहीं टूट जाती है, जब तक अनन्त को प्राप्त करने के लिए हमारी गति सहज ही अपरिमित नहीं हो पाती है। इस स्तर पर आकर श्री बाबूजी में समाये हुए, मैंने एक यह भी भेद खुला पाया है कि पहले ध्यान के आरम्भ में तो उस दिव्य अणु में ही प्राणाहुति-शक्ति को हम भर पाते थे, वही असीमित गति और असीमित फैलाव पाने पर अब सहज ही उनकी छवि और प्राणाहुति को हम अपने सम्पूर्ण में भरा हुआ पाने लगते हैं। सदगुरु श्री बाबूजी के तसव्वुर का यही अतिशय महत्त्व मैंने देखा है। एक ओर तो प्राणाहुति की सहायता मिलते रहने से अन्तर के आवरण साफ होते चले जाते हैं, और अंतर अपने विशुद्ध एवं सहज रूप में आना आरम्भ हो जाता है। दूसरी ओर हमारे अहं के बन्धन भी टूटते चले जाते हैं जिससे हमारा फैलाव विराट एवं विशुद्ध अवस्था में होना शुरू हो जाता है, और ईश्वरीय शक्ति का समावेश अन्तर के कण-कण में होने लगता है। कौन जानेगा इस गरिमा को, कौन समझेगा 'उनकी' महिमा और कृपा की? एक समय जब हमारे कुल अन्तर में दिव्यता का ही फैलाव पूर्ण रूप से हो जाता है, तब से ही अन्तर का दिव्य प्रकाश एवं स्थिति हमारे चारों ओर बाह्य वातावरण में भी छाई

हुई मिलने लगती है। इतना ही नही बाह्य आचरण, स्वभाव एवं व्यवहार में भी एक सहज स्वाभाविकता का समावेश मिलने लगता है। अभी तक हम बनावट में जी रहे थे, इसका अनुभव हमें तभी मिल पाता है जब विशुद्ध सत्य (Truth) का अन्तर और बाहर दोनों में समान रूप से बहाव हो जाता है। जैसे-जैसे यह आन्तरिक-विशुद्धावस्था, एवं सहजता, अपनी परिपक्व अवस्था (बका) में आती जाती है उसका विशुद्ध साया अनजाने ही हमारे कार्यों एवं व्यवहार में समाया मिलने लगता है, जब यह अवस्था अपनी सीमा पर पहुँच जाती है, तब हमें इस बात का भी पता नहीं लगता है कि कब आवश्यकता पड़ने पर हममें मान-मर्यादा, स्नेह व गुस्सा आकर जुड़ जाते हैं और अपना कार्य पूरा होने पर हमें छोड़ कर चले जाते हैं । हम जो हैं वही रह जाते हैं। उसका अर्थ यही है कि हर आत्मिक-दशा को अपनी स्वाभाविक एवं सहज अवस्था पर श्री बाबूजी ले आते हैं, जिससे उससे आगे आने वाली सूक्ष्म दशा में लय हो पाना अभ्यासी के लिए सहज हो जाता है। बाह्य व्यवहार का सौंदर्य भी तभी निखर पाता है, जब कि अन्तर और बाहर की दशा में एक सामन्जस्य हुआ रहने लगता है। अन्तर की पूर्ण सुव्यवस्थित सहज गति एवं स्थिरता ऐसी घर कर लेती है जिससे कि बाह्य में भी इसका तेज और प्रभाव झलकने लगता है। यही कारण है कि ऐसी स्थिति पाये हुये संत जहाँ भी बैठ जाते हैं वहाँ मानव ही क्या, सम्पूर्ण वातारण भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहता है। इससे भी आगे मानव की आध्यात्मिक-उन्नति की चरम सीमा पर जब श्री बाबूजी महाराज हमें पहुँचाते हैं, तो मानों सम्पूर्ण विश्व में, सर्वव्यापी रूप में हमारा फैलाव हो जाता है। मात्र

केवल सद्गुरु में लय रहते हुए, हम भी सर्वव्यापक रूप में व्यापक हो रहते हैं। इसके बाद एक और आश्चर्य यह होता है, कि क्रमशः यह फैलाव भी अपने "आदि" (ईश्वर) में ही मिल जाता है और तब हम अन्तिम सत्य (Ultimate) की ओर अग्रसर होने लगते हैं, अर्थात ब्रह्मांड की सीमा भी दृष्टि से ओझल हो जाती है और हमारे सामने अन्तिम सत्य (भूमा) की महत्ता ही समक्ष में व्याप्त मिलने लगती है। यों कह लें कि हमारी हस्ती न होते हुए भी, "होने" का वहम सा लिए, पृथ्वी पर चलती-फिरती काया सारा कार्य करती रहती है। शक्तिमय होते हुए भी एक भूलापन, सर्वव्यापी होते हुए भी सरलता एवं सादगी, ओढ़े हुए हम घूमते रहते हैं।

इससे यह स्पष्ट हो गया है कि मन की सहज गति, आन्तरिक एवं सूक्ष्म साधना को अपनाने से ही मिल पाती है। सहज मार्ग साधना-पद्धति को अपना कर ही इस तथ्य का सच्चा प्रमाण मैंने पाया है कि सहज मार्ग साधना ही ऐसी सूक्ष्म साधना है। यह मेरा अनुभव है कि लक्ष्य केवल ईश्वर प्राप्ति का ही होना चाहिए; वही साधना निःस्वार्थ होती है। मन का ध्यान में निरन्तर डूबे रहने का अभ्यास ही सूक्ष्मातिसूक्ष्म साधना है। बाह्य क्रियाओं के अवलम्बन एवं आडम्बरों, तथा आकर्षण से परे, यह केवल प्रिय "साध्य" से मिलन की साध भरी साधना है। ध्यान को यदि साधना कहें भी तो यह सूक्ष्म से सूक्ष्म है, क्योंकि साधना तो "मन की लगी" को कहते हैं। मन से सूक्ष्म कोई चीज हो ही नहीं सकती है और उससे शक्तिवान और वेगवान भी कोई चीज नहीं हो सकती है। इसलिए मन को निरन्तर ईश्वर के ध्यान में डुबाये रहने के अभ्यास

द्वारा ही, इसका वेग एवं इसकी शक्ति, सभी का मोड़ हमारी आध्यात्मिक उन्नति की गति में चार चाँद लगा देता है। श्री बाबूजी का यह कथन कितना सत्य है कि "मन की शक्ति का सदुपयोग न कर पाने के कारण ही हम अपनी कुल्हाड़ी से अपना पैर कटता हुआ पाने लगते हैं।" दूसरी ओर इसकी शक्ति का सदुपयोग, हमारे लिए ईश्वर-प्राप्ति की यात्रा में अत्यन्त सहायक एवं शक्ति देने वाला होता है। यही मन ध्यान के अभ्यास में रमते हुए, ईश्वरीय-रंग में इस प्रकार रँग जाता है कि फिर हमें ध्यान रखने के अभ्यास का भी ध्यान नहीं रहता है, अर्थात् ध्यान अपनी सहज गति को प्राप्त हो जाता है ,या कहिये ध्यान की सूक्ष्म-गति का प्रारम्भ हो जाता है। साधन कितना भी सूक्ष्म क्यों न बताया जाय फिर भी वह कर्म की संज्ञा में गिना जाता है। विचार द्वारा ध्यान रखने की भी सजगता एवं अभ्यास, सतत्-स्मरण के रूप में जो हम करते हैं, वह ध्यान रहने की असलियत से कहीं भारी होता है। किन्तु उसका परिणाम, जो हमें अन्तर की अवस्था में सतत्-आनन्द के रूप में मिलता चलता है, वह सहज-सुखद हल्केपन का अनुभव लिए हुए, करने के भाव से नितान्त परे होता है। इसीलिए यह (ध्यान) बन्धन-मुक्त करने में समर्थ है और वह (पूजा-पाठ) क्रिया में लपेटने वाला बन जाता है। ध्यान, ईश्वर से योग देकर, उसमें पाये हुए आनन्द-रस में इतना लय रखने लगता है, कि फिर ध्यान करने का विचार भी आते ही उस क्षण हमें लगता है कि मानो हम सहज ध्यान एवं आनन्द से अलग हो गये हैं। क्रमशः आगे बढ़ते हुए उस ध्यान में पाये आनन्द को भी हम भूलने लगते हैं। ऐसा

क्यों होता है? क्योंकि जो आनन्द विचारों को ध्यान में डुबोये रहने पर अन्तर में मिलता है उसे मन चूस लेता है, फिर विचार उस तक नहीं पहुँच पाते हैं। अब मन स्वयं ही ध्यानावस्थित अवस्था में डूबा रहना प्रारम्भ कर देता है, तभी मन पर छायी स्थूलता पिघलना शुरू हो जाती है एवं उसका सूक्ष्म एवं विशुद्ध रूप, एवं अप्रतिम गति की साम्यता, हमारे सम्मुख उज्जवल होती चली जाती है। श्री बाबू जी महाराज के आध्यात्मिक-प्रशिक्षण की यह विशेषता है कि सूक्ष्म हालत में प्रवेश पाने पर, फिर उसमें फैलते हुए और लय होते हुए, अपनी वर्तमान हालत से मिलता जुलता अभ्यास या तरीका, अपने आप ही होना प्रारम्भ हो जाता है। इतना ही नहीं सहज-मार्ग साधना के प्रशिक्षण की यह भी ऐसी उज्जवल खूबी है कि यहाँ हम शान्ति से तृप्त नहीं होते हैं। साक्षात्कार से भी हमारी प्यास नहीं बुझ पाती है, बल्कि ईश्वर में मिल कर लय हो जाना ही मानो हमारा लक्ष्य और संकल्प बन जाता है। यही कारण है कि श्री बाबूजी महाराज के आंतरिक प्रशिक्षण में, उनकी इच्छा शक्ति द्वारा पाई हुई प्राणाहुति शक्ति का प्रवाह पाते हुए, हमें अपना लक्ष्य प्राप्त होता ही है। कण-कण सहज गति का समावेश पाते हुए, उसमें भी सहजता एवं परिपक्व अवस्था (बका) ईश्वर को देनी ही पड़ती है। श्री बाबूजी का कथन हमें प्रत्यक्ष हुआ मिलता है, कि "जैसी फना (लय-अवस्था) हमारी होती है, उसी मिकदार में बका (परिपक्व अवस्था) ईश्वर के दरबार से हमें मिलती है।" यों सहज गति अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है।

अन्तिम सत्य

आत्मिक-विकास के कई स्तरों का विवरण तो मैं 'आत्मिक विकास' नामक अध्याय में लिख चुकी हूँ। अब दिव्य विकास, जो अन्तिम सत्य के देश में केन्द्र मण्डल की यात्रा में हमें व्याप्त मिलता है, इस देश अर्थात् अन्तिम सत्य के इस अध्याय में अन्तिम अवस्था का विवरण अन्तिम सत्य के रूप में देने का मेरा यह प्रयास मालिक श्री बाबूजी ही सुव्यवस्थित रूप में सम्पन्न करेंगे। कैसी महानता सद्गुरु श्री बाबूजी की है कि जिस हालत में हमें रखते हैं, विकसित करते हैं, उस हालत में भी हमें उनके होने का आभास मिलता जाता है। मानो वे अपने पद को भी विस्मृत कर हमारे साथ ही रहते हैं।

दिव्य विकास ईश्वर प्राप्ति से लेकर उस परम शक्ति में विलीन हो जाने तक चलता है, फिर अन्तिम सत्य के क्षेत्र में प्रवेश पाने पर आदि-विकास ही मानों हममें उतर आता है। केन्द्र-मण्डल की यात्रा शुरु हो जाती है किन्तु अब यात्रा शब्द ठीक नहीं लगता है। गति-विहीन गति हो, अनुभूति के बिना भी अनुभूति हो, उसे क्या कहें? यों कह लें कि अनुभूति ही मानों स्वयं बोल कर अपना परिचय दे रही है। डिवाइन (दिव्य) के वैभव तथा शक्ति का क्षेत्र यही है। इसीलिए वैभव को निहारते हुए हम सात वृत्तों (Rings) में, जो कि 'भूमा' की शक्ति के मुख्य केन्द्र हैं, प्रवेश पा जाते हैं। प्रत्येक वृत्त में दिव्य शक्ति के सहित एक अद्भुत हालत रहती है। यहाँ पर जो भी दिखाई पड़ता है, न उसे दिव्य दृष्टि द्वारा और न

अन्तर्दृष्टि द्वारा पकड़ा जा सकता है। ऐसा लगता है कि मानो डिवाइन के अन्दर से कोई 'उसे' देख रहा है और हम लिख रहे हैं। आज परा चेतना (Super Conscious) का अर्थ मैं इतना ही समझ सकी हूँ कि डिवाइन जो कुछ हमारी चेतना में भर दे, फिर जो हम बोलें, वही पराचेतना-अवस्था से बोल रहे हैं, कहा जा सकता है। जब से अन्तिम सत्य के क्षेत्र में यानी केन्द्र मण्डल में कदम रखते हैं, जड़ समाधि की हालत को भी, जो प्रथम वृत्त में कदम रखने तक साथ थी, केवल हम दूर से ही देखते हैं, प्रवेश नहीं पा सकते हैं। लगता है, डिवाइन हमें बेदाग ही देखना चाहता है, बेभोग ही रखना चाहता है। मेरे श्री बाबूजी ने मुझे लिखा था "यदि दिव्य-दशाओं का भी भोग रहा तो भोग की हालत तो कही ही जाएगी चाहे दिव्य ही क्यों न हो। मुझे तुम्हें जहाँ ले चलना है जहाँ केवल 'वह है जो है' तो हमें भी तो वैसा ही होना चाहिए जैसा होना चाहिए।" अब तो साम्य-गति जिसके विषय में 'साक्षात्कार' और ईश्वर प्राप्ति तक-मैंने लिखा था, वह तो गति थी, किन्तु अब जो साम्य है, समक्ष में व्याप्त है, वह अद्‌भुत है। कैसे कहूँ जैसा श्री बाबूजी ने लिखा था कि जैसा 'वह' है वैसा ही हमें होना चाहिए अर्थात् 'उसकी' साम्यता (बराबरी) ही हममें उतरती है, चाहे दिव्य शक्ति हो चाहे उस पर आधिपत्य की हालत हो। यों कहें कि हम वही होते जाते हैं जो हमें होना चाहिए। तेरह ग्रन्थियाँ जिनका जिक्र श्री बाबूजी ने अपनी पुस्तिका 'अनन्त की ओर' में किया है, वे सब भी अहं के सोलह वृत्तों के समाप्त होते तक खुल कर समाप्त ही हो जाती हैं, तभी तो फिर केवल समक्ष में पसारा ही पसारा रह

जाता है। हालत नाम की चीज़ कुछ लिखने को नहीं रह जाती है। फिर तो क़लम आमने-सामने की ही बात करती हैं क्योंकि नैन जो देखते हैं उनकी ज्योति 'मालिक' स्वयं बन जाते हैं।

अब ध्रुव पद की गति के विषय में भी जो कुछ मेरे बाबूजी ने अन्तर में उतारा था, और जिसका जिक्र श्री बाबूजी ने अपनी पुस्तक में किया है, लिखने का प्रयत्न कर रही हूँ। 'ध्रुवपद' दो बार हमारी आध्यात्मिक क्षेत्र की यात्रा में आता है। इन दोनों बार की गतियों को उन्होंने 'ध्रुवपद' ही नाम दिया है किन्तु दोनों में स्थितियाँ पृथक् होती हैं। आध्यात्मिक उन्नति के क्षेत्र में इन्हें दो पड़ाव के रूप में भी कहा जा सकता है। प्रथम स्थिति तो तब आती है जब अन्तर के सारे आवरण उतर जाते हैं और सूक्ष्म-शरीर का बन्धन भी टूट कर समाप्त हो जाता है। क्रमशः जब कारण शरीर के बन्धन से भी मुक्त हो जाते हैं तब अन्तिम बधन अर्थात् आत्मा के स्वयं अपने बन्धन से भी मुक्त होने की बारी आ जाती है, तब इस दशा को जब मैंने श्री बाबूजी को लिखा था तभी 'मालिक' ने लिखा था कि 'इन्तहाई-ठहराव' आ गया है इसे 'ध्रुवपद' भी कहते हैं। वह ध्रुव-गति ऐसी थी कि मानों अब ऐसी अटल-स्थिति आ गई है कि अब न कहीं आना है न जाना है। नितान्त अविचल-स्थिति में, मानो श्री बाबूजी महाराज द्वारा लिखित 'कुतुब' की दशा पर बैठ गई हूँ, अर्थात् मानव के आत्मिक उद्धार की श्रेष्ठ-दशा 'कुतुब' प्राप्त हो गई। दूसरे 'ध्रुवपद' की दशा अथवा विशुद्ध गति, साक्षात्कार के बाद दिव्य विकास की चरम सीमा की स्थिति अर्थात् ईश्वर-प्राप्ति के बाद आती है। इस 'ध्रुवपद' को मानो स्वयं ईश्वर

ही हमें बख्शते हैं। फिर क्या, लक्ष्य प्राप्त हो गया, मानव-जीवन का कर्त्तव्य पूर्ण हो गया। अब मानों कोई काम शेष ही नहीं रहा, न कुछ मिला, न कुछ खोया। मानो साम्य-गति ने भी स्वयं अपनी वास्तविकता को प्रगट कर दिया। न कुछ देखा, न किसी ने कुछ दिखाया। दिखाने वाले श्री बाबूजी भी ओट हो गए। अब कौन ले जाएगा, कहाँ ले जाएगा- कोई सोच-फिक्र नहीं रहती है। अकर्मण्य-सा अन्तरमन अटल स्थिति को प्राप्त कर लेता है। फिर क्या लिखें लेखनी बेचारी; मानो 'ध्रुवपद' पाकर, असलियत की यात्रा पूर्ण हो जाने पर वह अचल हो गई है- यह कह कर कि 'अविगत-गति कछु कहत न आवे' और इस प्रार्थना के साथ कि 'ध्यान अपने से सबको पहुँचाओ।'

जैसा मैंने ऊपर इस अध्याय में प्रथम वृत्त का थोड़ा-सा हवाला दिया है तो मेरा यही कहना है कि प्रथम वृत्त में कदम रखने पर मानो अनुभूति बोल उठती है कि हमारा योग आदि-शक्ति से ही हो गया है। यह जरूर है कि हमें स्वभावतः ही अपने श्री बाबूजी महाराज का माध्यम समक्ष में ही दिखाई पड़ता है, मानो उनकी ही आँखें देख कर अपनी प्यार भरी नज़र के माध्यम द्वारा वहाँ की हर बात को आदि पावन्नता के शीशे में उतार कर हमें दिखला रही हैं। एक और बात है कि केन्द्र मण्डल (Central Region) में क़दम रखने पर तो वतन की वापसी मानो अनुभूति में खिल उठती है। किन्तु प्रथम वृत्त में क़दम रखने पर उसे आदि-शक्ति (भूमा) जिसका अंदाज भी पृथ्वी पर कभी उतरा ही नहीं, उसमें भी योग पाया हुआ कुछ इस तरह से रहता है कि मानो योग अपनी

परिभाषा खो चुका है। यहाँ एक बहुत आवश्यक बात यह तो अवश्य कहूँगी कि ईश्वरीय शक्ति का तो अन्दाज अवतारों के प्रादुर्भाव द्वारा पृथ्वी को सदैव मिलता रहा है किन्तु 'भूमा' की शक्ति जिसका साया मात्र ही केन्द्र-मण्डल तक पहुँच पाता है, शक्ति नहीं, इसका क्या कहना। इसीलिए शायद किसी सन्त या महापुरुष ने इसका जिक्र ही नहीं किया है अपनी लेखनी द्वारा। करता भी कैसे? ईश्वर के लाल तो अवतारों के रूप में धरती पर आते रहे हैं, अतः उनका जिक्र तो प्रत्येक लेखनी ने किया है; किन्तु 'भूमा' के लाल ने आज पृथ्वी पर श्री बाबूजी के रूप में उतर कर, समस्त के प्रति संवेदनशील हुए रहकर 'उसका' (भूमा का) व उस दिव्य-देश का भेद अपने लेखनी द्वारा भी दिया और अपने अभ्यासी-बच्चों को भी उस आदि-शक्ति तक पहुँचने की सहज राह दिखाई। किन्तु कौन इस अद्‌भुत, अलौकिक राह के बारे में बतला सकेगा? क्या मैं यह कहने पर मजबूर हो ही जाऊँ कि यह राह 'वे' स्वयं ही तो हैं। उनमें ही लय-अवस्था प्राप्त करके अभ्यासी मुख्य तीन मण्डल (Region) हृदय-मण्डल, मनोमण्डल (Mind Region) पार करके केन्द्र मण्डल में प्रवेश पा सकता है। तत्पश्चात् जब लय-अवस्था भी 'उनमें' लय हो जाती है और जो लय हो रहा था, वह भी समाप्त हो जाता है तभी उसकी नई जिन्दगी होती है जिसमें जिन्दगी नहीं होती है। फिर भी वह जाग उठता है और 'मालिक' के इस संकल्प में, कि लोग अन्तिम सत्य तक पहुँचें, वह उनके संकल्प के आधार पर ही खड़ा हो जाता है। उस आदि शक्ति के केन्द्र मण्डल की ही यह विशेषता है कि अहं

के सोलह वृत्त पार करने के बाद ही कोई उसमें कदम रख सकता है और दूसरी ओर 'मैं' का 'तू' यानी ईश्वर से योग होना ही होता है। क्योंकि 'Where Reality ends, Bliss begins' अर्थात् ईश्वर सत्य है हमारे होने का सूक्ष्म प्रमाण। यह सत्य मेरे समक्ष उस दिन प्रत्यक्ष हो उठा जब किसी ने यह प्रश्न उठाया कि आखिर ईश्वर है क्या, और कौन है? उत्तर तुरन्त ही मानो प्रत्यक्ष हो गया कि आदि क्षोभ द्वारा जितनी शक्ति रचना के लिए आवश्यक थी, आदि-शक्ति (भूमा) से अलग हो गई, वही शक्ति ईश्वर है, जिससे रचना हुई। इस प्रकार हमारे होने (Ego) का आधार एक मात्र ईश्वर ही ही है। इसलिए ईश्वर-प्राप्ति के साथ ही श्री बाबूजी द्वारा बतलाये हुए अहं के सोलह वृत्त भी समाप्त हो जाते हैं। अर्थात् ईश्वर में, अपने आधार में ही लय हो जाते हैं। तब रह जाता है अहं से रहित मानव, जो हद (अहं की सीमा) को तो पार कर गया, अब अनन्त के साये में विश्राम पा गया है। कबीर ने सुन्दर विवरण दिया है कि 'सोलह संख (वृत्त) पै 'तकिया हमारा' और फिर 'हद-अनहद के बीच में रहा कबीरा सोय।' कदाचित कबीर फिर से परमानन्द से न जाग पाए होंगे क्योंकि श्री बाबूजी महाराज की भाँति सद्गुरु उन्हें प्राप्त न हो पाया जो कि अपने महत् संकल्प का, कि प्राणिमात्र अपने वतन (अन्तिम-सत्य) तक पहुँचे, पलना बनाकर इच्छा-शक्ति की डोरी से, अपनी प्राण-शक्ति के सहारे 'वतन' में पहुँचा सकता। अब श्री बाबूजी की लिखी पुस्तक 'Efficacy of Raj Yoga' मे वर्णित 'पार्षद' की अवस्था तो यों प्राप्त हो गई जैसे प्रियतम के द्वार के द्वारपाल की सुरति तो लगी

है अन्दर की आहट पर, और मिलन की आस जो हृदय को निकाल कर मानो द्वार के भीतर प्रवेश दे आई है। फिर भी द्वारपाल की अवस्था तो अजीबोगरीब है, वह जी-जान से भीतर है परन्तु कोई उसे मानो बाहर ठहरने को कह गया है, तो फिर क्या करे बेचारा। निगाह द्वार पर लगाये मानो 'जीवित ही मर गया हो' की सी दशा में समाया खड़ा रहता है। कितना समय ऐसी दशा में व्यतीत हो गया, पता नहीं। किन्तु जैसे किसी ने ध्यान दिलाया हो तो देखा कि अचानक सद्गुरु श्री बाबूजी मानो अपनी प्राण-शक्ति द्वारा अपने संकल्प का पैगाम लेकर आये हों। और पुनः एक बार अपने अन्तिम विराट का अन्तिम-दर्शन देने समक्ष में प्रगट हो गए हों। फिर द्वार में प्रवेश पाने पर मानो उस आदि-सत्य (भूमा) की दिव्यता एवं शक्ति का प्रभाव देखकर भौचक हुआ सा अभ्यासी ठिठक कर अवाक् खड़ा रह जाता है। महापार्षद की हालत मानो अब समक्ष में और हममें जारी हो जाती है, और अपना परिचय खुद दे डालती है कि 'यह भूमा के वैभव, ऐश्वर्य और शक्ति का देश है।' तभी श्री बाबूजी ने मुझे लिखा था कि 'यदि इस अवस्था में डूब कर लोगों को तवज्जोह दोगी तो उनके होश-हवास जाते रहेंगे।' इसलिए मानों स्वयं में होश को ओढ़कर ही तब काम करना होता था क्योंकि अवाक्-गति क्या करे। अब कौन तोड़ेगा इस अवाक् की मूर्च्छा को? तब? स्वयं (भूमा) ही शायद श्री बाबूजी के रूप में, पुनः अपने में समाकर ले चला-तैराता, पैराता उस अनोखे देश में जहाँ देश की राह भी गम्य नहीं होती है। यहाँ आकर दिव्य-आकर्षण भी आकर्षित नहीं करता है, क्योंकि यह भेद अब

खुल गया है कि आदि में कोई आकर्षण नहीं है इसलिए बिना सद्गुरू के ले चले कोई चल नहीं सकता है। सद्गुरु श्री बाबूजी ही इस अविचल सिन्धु में पैराते हुए ले चलते हैं। भला पैरना (Swimming) भी कौन सिखाये 'उन' बिन क्योंकि न जल है, न आधार है, न व्यापकता है, सभी तो लय हो गया है अब तक। फिर भी अब केवल पैराव ही पैराव है सामने। श्री बाबूजी ने सत्य ही कहा था कि 'जहाँ हमारा गमन समाप्त हो जाता है वहाँ से तो नितान्त सद्गुरु की ही आवश्यकता रहती है।

एक भेद और भी आज हमारे समक्ष स्पष्ट हो गया है कि अब तक सुनती आ रही हूँ कि अमुक महाविभूति ने, जैसा अपने श्री बाबूजी के विषय में भी सुना है और देखा भी है कि आदेश (Dictate) जिनका विवरण श्री बाबूजी ने अपनी 'आत्म कथा' पुस्तक के दूसरे भाग में दिया है, पराचेतन अवस्था (Super Conscious State) में आकर ग्रहण किये गये हैं। इनका अर्थ यह है कि 'उनका' (श्री बाबूजी का) स्थान तो भूमा में है परन्तु जब ऊपरी आदेश आते थे तो उन्हें ग्रहण (Receive) करने के लिए अपने स्थान से नीचे उतर कर ही उन्हें ग्रहण करना होता था। अब यह ध्रुव सत्य स्पष्ट हो गया है कि यदि कोई यह कहे कि वह आदेश ग्रहण कर रहा है तो यह नितान्त गलत है क्योंकि विचार के आदि स्थान पर स्थित हुए बिना आदेश ग्रहण कर पाना असम्भव है। जो ईश्वर के कार्य के लिए ही उस परम आदि-शक्ति का प्रतीक होकर आया है 'वह' केवल एक है और आदेश वही ग्रहण करता है और कर सकता है।

'अहं' के सोलह वृत्तों के पार हो जाने पर हृदय-मण्डल पार हो जाता है। फिर 'हिरण्यगर्भ' की यात्रा आरम्भ हो जाती है। इसकी यात्रा पूर्ण होने पर श्री बाबूजी महाराज द्वारा लिखित मनोमण्डल को पार करके हम केन्द्र मण्डल में प्रवेश पा जाते हैं। मनोमण्डल पार कर जाने के बाद कुछ भी बोलते या लिखते समय आध्यात्मिक-विषयों के बारे में विचार का योग सतत् 'आदि' अर्थात् असलियत से ही रहने के कारण, जो कुछ बोला या लिखा जाता है असलियत का ही पुट लिए हुए होता है। अन्यथा विचार तबसे हमें स्पर्श ही नहीं कर सकते हैं। क्योंकि विचारों की रहनी तब अपने आदि स्थान पराचेतन अवस्था में ही स्थित हो रहती है। विचारों की तरंगों की वहाँ गुजर ही नहीं है। धरती पर रहते हुए भी जब हम केन्द्र मण्डल में प्रवेश पा जाते हैं तब हमें दूसरों के लिए ईश्वर विषय को स्पष्ट करके उनके हृदय में भी ईश्वरत्व का प्रकाश भर देने की आवश्यकता होती है, इसी कारण इस अवस्था में पूछी जाने वाली बातों का उत्तर सहज ही विचार में उतरता आता है। वे बोली हुई बातें नितान्त असलियत लिए हुए ही होती हैं, इसीलिए इन बातों के सुनने वालों के हृदय में ईश्वर के प्रति जागृति को खींच लाने की स्पष्ट क्षमता होती है। इस दिव्य-देश की यात्रा के लिए 'मालिक' दिव्य चेतना (Divine Consciousness) इनाम देते हैं एवं दिव्य प्रज्ञा (Divine Wisdom) उनके दिव्य-प्रसाद रूप में हम ग्रहण करते हैं। अनेकों बार श्री बाबूजी ने कहा है 'याद ऐसी हो जो कभी न आए'। ऐसा मैंने तब पाया है जब ध्यान अपनी हैसियत

को खो देता है, मानो ध्यान ने अपने रहने की जिम्मेदारी खुद ले ली हो और हम वैसे ही हो गए जैसा हमें होना चाहिए। तब याद का आधार मिट जाता है और तभी समझना चाहिए कि हम लक्ष्य तक जा पहुँचे हैं। साक्षात्कार पा जाने के बाद तो हम वैसे (तद्रूप) हो जाते हैं और आदि अथवा वतन या भूमा में पैर रखने के बाद हम वैसे रह जाते हैं जैसा कि हमें रहना चाहिए अर्थात् केवल व्यक्तित्व (Identity) ही शेष रह जाता है। वैसा हुए बिना क्या कोई साक्षात्कार पा सकता है? साक्षात्कार की दशा को पी जाने के बाद जब अपने आदि (वतन) के केन्द्र में पैर रख दिया तो फिर अब अपना ध्यान अलहदगी को कहाँ रखता, इसलिए व्यक्तित्व का ही रूप रह जाता है। आध्यात्मिक क्षेत्र में असलियत के केन्द्र में कदम रखने तक ध्यान ईश्वरीय-धारा में लय रहते हुए सद्गुरु श्री बाबूजी की इच्छा-शक्ति द्वारा हर क्षेत्र को पार कर जाता है। सहज-मार्ग की यात्रा 'सत्य-पद' तक पहुँच कर अन्तिम बन्द के साथ पूर्ण हो जाती है। ध्यान के साथ ही प्रेम, भक्ति, ज्ञान, सभी कुछ तो मार्ग में 'प्रियतम' पर ही न्योछावर हो जाता है। हाँ तब शेष रह जाती है केवल असलियत की चिनगारी अर्थात् ईश्वरीय-अणु जिसे अपने 'आदि' (भूमा) में मिलना होता है। हमसे भी अदृश्य हुए इस ईश्वरीय-अणु को जो 'भूमा' से अलग हुआ हमारे साथ था, कैसे इसकी असलियत में योग देने के लिए श्री बाबूजी सतत् तत्पर रहते हैं, इसका पता हमें तब ही मिल पाता है जब समय-समय पर कितनी ही बार मानो मरण की दशा को प्राप्त कर फिर अमर हुई वास्तविकता

को यह चेतना अथवा एहसास दे जाता है कि तुझे अपने 'प्रिय' से मिलना है। यद्यपि असलियत की छलना को छलना नहीं कहा जा सकता किन्तु फिर भी लेखनी इस स्तर पर यही लिखेगी कि उपर्युक्त असलियत की छलना ही हमारे लिए और आगे चलना है का मानो बुलावा दे जाती है। ऐसी दिव्य चेतना बेहोशी में होश की द्योतक होकर आती है। यद्यपि इसे भी अब चेतना यों नहीं कह सकते हैं कि यह स्वयं में अब कुछ है ही नहीं किन्तु मुख्य केन्द्र के आस-पास की छिटक अथवा दिव्य स्पन्दन (Vibration) मानो अपने ही अंश (Identity) को पास आने का नेह निमन्त्रण दे रहे हों।

मुझे लगता है कि अन्तिम सत्य के केन्द्र में प्रवेश पा कर आगे पैरने पर सारे भेद स्पष्ट होना आरम्भ हो जाते हैं। मानो यह केन्द्र सरलता का प्रतीक है जहाँ भेद कोई रह ही नहीं सकता है। जब मेरे वतन (केन्द्र) की सरलता इस तथ्य को ही स्पष्ट कराना चाहती है कि इसमें चाहे कोई ईश्वरीय भेद हो चाहे 'भूमा' का भेद हो, भेद रह ही नहीं सकता है। जैसे चन्द्रमा निकलते ही चाँदनी छिटक कर मानो हमें चाँद का भेद स्पष्ट कर देती है। इसी प्रकार श्री रामचन्द्र जी (श्री बाबूजी) के द्वारा, जो आदि-शक्ति के प्रतीक रूप में धरती पर मानव को वतन की वापसी देने के लिए उतर आए हैं, धरती पर उतारी हुई दिव्य प्राणाहुति-शक्ति मानो अंतिम-सत्य का भेद हम धरती के प्राणियों के लिए स्पष्ट कर देना चाहती है। आज जब उन्होंने अपना ही लिया और वतन (भूमा) की ड्योढ़ी के भीतर लँघा ही दिया तो जितना भी 'मालिक' ने स्वयं को मेरे समक्ष स्पष्ट किया

है, मैं वह सबके समक्ष लेखना द्वारा और उनके द्वारा पाई हुई दिव्य प्राण शक्ति द्वारा सारे भेद स्पष्ट कर रही हूँ। आगे भी जो स्पष्ट कराना चाहेंगे तब लेखनी मौन न रहेगी और वाणी मुखरित रहेगी।

प्रायः किसी साधु पुरुष के चेहरे पर चारों ओर प्रकाश सा दिखलाई देता है। लोग उस साधु को काफी पहुँचा हुआ आध्यात्मिक पुरुष मानने लगते हैं। इस प्रकाश के संदर्भ में एक बात अवश्य कहना है कि संयम के संकल्प द्वारा अथवा साधु पुरुष बनने के प्रयास में भी चेहरे पर प्रकाश आने लगता है जिससे हम पहचान सकते हैं कि यह साधु पुरुष है। किन्तु यह प्रकाश चेहेरे तक ही सीमित रहता है क्योंकि इसकी उपज का आधार मन ही होता है। परन्तु मुझे प्रकाशित वृत्त (Halo) के विषय में एक स्पष्टीकरण देना है। अवतारों के चित्र एवं महा जनों के चित्र में भी मैंने देखा है कि चारों ओर प्रकाश का घेरा बना रहता है, परन्तु सब में एक सा ही बना रहता है, जबकि आध्यात्मिक-क्षेत्र में सहज-मार्ग साधना द्वारा मैंने साधना के आदि से अन्त तक घेरे के इस प्रकाश के रूप को बदलते पाया है। सहज-मार्ग साधना का प्रारम्भ हृदय में ईश्वरीय-प्रकाश के ध्यान से ही प्रारम्भ होता है। सतत्-स्मरण द्वारा और ध्यान में रहने के प्रयास व फिक्र द्वारा प्रथम तो हृदय में पवित्रता का प्रकाश फैलने लगता है जो हमें केवल ध्यान में आँख बन्द करने पर अपने अन्दर ही फैला हुआ लगता है। इसकी छटा बाहर नहीं छिटकने पाती है। कभी-कभी तो एकाएक प्रकाश बाह्य आँखों के सामने चमक जाता है। तब श्री बाबूजी ने लिखा था कि हृदय की पवित्रता बढ़ जाने पर आत्मा के प्रकाश की झलक आँखों

के आगे चमक कर मानो यह कह जाती है कि हृदय की पवित्रता बढ़ जाने से अब आत्मिक-प्रकाश व पवित्रता का प्रकाश अन्तर से बाह्य में भी आने लगा है। फिर ध्यान की गहराई सूक्ष्म शरीर को भी आत्मिक-प्रकाश से प्रकाशित कर देती है। क्रमशः जब मन ध्यान में डूबा ही रहने लगता है और लगता है कि अन्तर में मौजूद सद्गुरु ने मन का योग आत्मिक शक्ति से कर दिया है, बस तब से तो ऐसा लगने लगता है कि अपना कुल ही (समूचा ही) आत्मिक-प्रकाश से प्रकाशित हो उठा है। जहाँ भी हम बैठें, जितनी जगह में बैठें, जहाँ भी चलते-फिरते हैं मानो पावन प्रकाश के भीतर ही रहते हैं। तब इतना अच्छा लगता है कि जी चाहता है कि हम यह नज़ारा देखते ही रहें। क्रमशः जब आध्यात्मिक उन्नति को प्राप्त कर हमारा कण-कण पुलक उठता है तब सूक्ष्म-शरीर का बन्धन भी टूट जाता है। तब से ही संस्कारों के बन्धन से मुक्ति पा जाते हैं चाहे वे संस्कार पूर्व के हों या अब के हों। ईश्वरीय-प्रकाश का फैलाव अन्तर में, सूक्ष्म-शरीर का बन्धन न होने के कारण अब स्वतन्त्र रूप के कारण शरीर में भी व्याप्त होता जाता है। किन्तु यह बाह्य में कुछ ऐसा प्रकाश रह जाता है कि जिसमें प्रकाश को निकाल लें तो प्रकाश का 'कारण' रह जायेगा अर्थात् प्रकाश की असलियत ही रह जाती है। क्रमशः बाह्य और अन्तर की एक समान गति हो जाती है और तब अपना रोम-रोम ऐसा प्रकाशित हो उठता है मानो मेरा स्वरूप ईश्वरीय प्रकाश का पुंज हो। जब कारण के भी बन्धन ईश्वरीय प्रकाश के सेंक से पिघल कर टूट जाते हैं तब आत्मा का ही पसारा रह जाता है। तभी से प्रकाश के

स्थान पर शक्ति (Power) का तेज अन्तर में व्याप्त हो जाता है जो बाह्य में भी छिटकने लगता है। अब हम शारीरिक सीमा के बन्धन से मुक्त हुए जीवित ही आत्मा के विस्तार में प्रवेश पा जाते हैं, तभी से हम जिधर भी जाएँ मानो आत्मिक-शक्ति का तेज फैल जाता है। वह ऐसा प्रभावशाली होता है कि तब कमरा ही नहीं दिशा की दिशा ही तेजोमय हो जाती है। कौन उतार सकेगा उस अलौकिक चित्र को, कौन तूलिका पा सकेगी उस अलौकिकता का रंग? वह समय ऐसा होता है जब कि जिस आध्यात्मिक विषय में बोला जाये या सभा के मध्य पहुँचते ही स्वयं ऐसा लगता है मानो मेरे आते ही वह तेज पूरी सभा पर छा गया है और लोग अभिभूत से हुए निहारते रह जाते हैं। तब बहुधा मैंने पाया कि न तो बोलने वाले को यह होश रहा कि वह क्या बोल गया और न सुनने वाले को यह होश कि उसने क्या सुना। परन्तु हृदय कुछ पा रहे हैं, उस एकाग्रता के माध्यम से ऐसा समाँ बँध जाता है। सहज-मार्ग साधना द्वारा श्री बाबू जी महाराज में लय-अवस्था पाकर एक के बाद एक करके ऐसी सहजता पूर्वक ये महत् आध्यात्मिक-गतियाँ अन्तर में ऐसी खिलती जाती हैं कि अनुभव इन्हें पी कर कुछ बोल कर लेखनी को देने में समर्थ होता है।

एक बात को जिसे अपने श्री बाबूजी के मुखारबिन्दु से सुनकर मैं कृतकृत्य हुई अवाक् खड़ी रह गयी थी सब के समक्ष रक्खे बिना नहीं रहा जाता है। एक बार अहमदाबाद से लौटने पर मैंने पूछा कि 'बाबूजी' जब तक अपने सहज-मार्ग के कार्य के लिए बाहर रहती हूँ तो मैं ऐसी तेजोमय रहती हूँ कि मानो दिव्यता अपनी

शक्ति के साथ फूटी पड़ती है किन्तु वहाँ से वापसी होने पर जैसे ही ट्रेन पर चढ़ती हूँ, वह तेज जो बाहर मुझसे ही फैला था स्वयं मुझमें ही समाने लगता है और घर पहुँचने तक कुल मेरे में समा जाता है। तो क्यों नहीं यह सदैव बना रहता है? उनका उत्तर था कि "हमारी गृहस्थ-संस्था है।" यदि ऐसा तेज घर पर भी हममें तेजोमय रहे तो शक्ति के जोर से जिस पर नियन्त्रण नहीं होता है, कहीं किसी के लिए कोई बात निकल जाये और वैसी ही हो जाये तो कितनी बड़ी हानि हो जायेगी। तेज अथवा शक्ति जो तुम्हें बख्शी गई है वह तो तुम्हारी हो चुकी लेकिन उसके संचालन की दिशा सदैव सही रहे इसलिए यह इंतजाम भी ईश्वर की तरफ से रहता है। इंसान जब तक धरती पर है फिर भी इंसान ही है। मैंने पाया कि आत्मा के परमात्मा से मिलन तक तो इस तेज की झलक कुछ रहती है परन्तु "हिरण्यगर्भ" की दशा में यह तेजी (शक्ति का खिंचाव या जोर), अपनी सहज अवस्था में अन्तर-बाह्य में फैला ही रहता है किन्तु प्रत्यक्ष रूप में नहीं रहता है। यदि आवश्यकता हो तो प्रत्यक्ष रूप में हम इसे पाते हैं, नहीं तो यह स्वतः हममें इस प्रकार समाया रहता है कि उभार कभी आता ही नहीं है। यही है प्रभावलय (Halo) का भेद जो स्पष्ट हो गया है।

ईश्वर के विषय में एक भेद और है जिसे खोलना ही पड़ेगा। हमेशा का एक प्रश्न है कि ईश्वर क्या है? उत्तर व्यावहारिक रूप में मैंने सहज ही यह पाया है कि आदि-शक्ति "भूमा" में प्रथम क्षोभ हुआ कि 'सृष्टि बने', तो सृष्टि निर्माण के लिए जितनी शक्ति की आवश्यकता थी उतनी शक्ति 'उससे' अलग हुई, वह ईश्वर है। यही

कारण है कि ईश्वर-प्राप्ति के बाद की अनन्त यात्रा अर्थात् अंतिम सत्य के बारे में कहीं संकेत तक नहीं मिलता है। आज परम-व्यक्तित्व अर्थात् दिव्य-विभूति श्री बाबूजी ने ऐसा श्रेष्ठ लक्ष्य मानव के समक्ष रक्खा है और इस श्रेष्ठ एवं दिव्य लक्ष्य की प्राप्ति देने हेतु अमोघ इच्छा-शक्ति एवं प्राणाहुति का प्रवाह भी लेकर आए हैं।

आज मेरे "मालिक" श्री बाबूजी की कृपा से मानो उनकी पकड़ाई लेखनी द्वारा अंतिम सत्य स्वयं सारे भेद को स्पष्ट कर देना चाहता है। अब आता है विराट-दर्शन का भेद जिसे दशा के विवरण के साथ ही स्पष्ट करने का मेरा प्रयास है। अंतिम सत्य जो स्वयं प्रकाशित ही है, उसमें कोई भी भेद छिप भी कैसे सकता है। केन्द्र मण्डल क्या है? मानो उस आदि (भूमा) का खुला हुआ हृदय है। यही कारण है कि इस महत्-केन्द्र की यात्रा में हमारे होने का अर्थ विस्मृत हो जाता है अर्थात् यों कहें कि आइडेन्टिटी का भी निगेशन अर्थात् अपने न होने का भाव भी विस्मृत होने लगता है। जिस विषय का विवरण देने के लिए लेखनी उठ रही है वह विचार से परे है। जितने "विराट" मेरे मालिक ने मुझे दिखाए हैं वे ऐसे अनोखे अपनत्व के साथ ले चले हैं कि प्रत्येक स्तर का विराट्-दर्शन भी देते चले और उसमें हमें इस प्रकार से फैलाया भी कि एक ओर तो लगता है कि हम अपने "प्रियतम" का विराट-दर्शन कर रहे हैं और अन्तर-अनुभूति बोलती है कि यह हमारा विराट है। इस विचित्रता पर बलिहार तो जाया जा सकता है किन्तु लिखूँ कैसे, यह समझ में नहीं आता है। "मालिक" साथ में है, लेखनी हाथ में है, फिर कुछ तो लिखेगी ही।

प्रथम "विराट" जो दिव्य-दृष्टि द्वारा देखा जाता है वह उसके (ईश्वर के) ब्रह्माण्ड-मण्डल का विस्तार है जिसमें पृथ्वी पर घटने वाली प्राकृतिक बड़ी घटनाएँ पहले ही घट जाती हैं, फिर पृथ्वी पर घटित होती है जिसे अर्जुन ने देखा था। दूसरा "विराट-दर्शन" अन्तर्दृष्टि द्वारा देखा जाता है जो अन्तर के फैलाव में उतरता है। यह विस्तार (विराट) पार ब्रह्माण्ड मण्डल का होता है जिसे माता यशोदा व कौशिल्या ने देखा था। तीसरा "विराट-दर्शन" सूक्ष्म-दृष्टि से देखा जा सकता है जो सूक्ष्म-शरीर का बन्धन टूट जाने पर सूक्ष्म विस्तार में फैलाव पाता है। चौथा "विराट-दर्शन" आत्मिक-दृष्टि से दृष्टिगत होता है। आत्मिक-दृष्टि आत्मा का बन्धन टूट जाने पर परमात्मा का विराट-दर्शन पाती है, जिसका दर्शन संत कबीर ने "राम की दुलहनियाँ" के रूप में पाया था। उस परम अलौकिक विराट को निहार कर अनुभूति में भर लेने के बाद आत्मिक दृष्टि परमात्मा के विराट में ही लय हो जाती है। एक तथ्य यह है कि हर विराट का दर्शन पाने के बाद उस विराट को देखने वाली दृष्टि "उसमें" ही लय हो जाती है। पाँचवाँ विराट सर्वव्यापी ईश्वर का होता है अर्थात् 'हिरण्यगर्भ' का महा विस्तार जिसे दिखाया नहीं जा सकता है वरन् उस स्थिति में स्वयं पहुँचने पर ही देखा जा सकता है। संत कबीर ने अपनी वाणी में इसे यों लिखा है "देखनहारा कोई बिरला है।" अब आता है अन्य विराट अर्थात अन्तिम विराट जो जिसका विराट है स्वयं ही मानो वह स्वयं को देखता है। यों भी कह सकते हैं कि वह विराट नहीं "अनन्य" है। युग-प्रवर्तक हमारे श्री बाबूजी महाराज का दिव्य व्यक्तित्व सम्पूर्ण

में व्याप्त रहेगा। चरम सत्य तो यही है कि "अन्तिम विराट" तो अन्त होता है देखने वाले और दिखाने वाले दोनों का ही।

अब उनके द्वारा उनकी ही कृपा से आध्यात्मिक क्षेत्र में आरम्भ से लेकर अन्तिम सत्य तक मुझे माध्यम बनाकर जो खोज (रिसर्च) उन्होंने पूर्ण की थी उन सम्पूर्ण दशाओं के विवरण सहित, एवं श्री बाबूजी की पावन पुस्तकों में लिखित एवं उनके द्वारा कथित श्रेष्ठ अवस्थाओं का भी विवरण लिखकर सबके समक्ष रखने का मेरा प्रयास है। उनकी यह इच्छा थी कि मैं जितना, जैसा भी विवरण दे सकूँ, लेखन द्वारा सबके समक्ष रक्खूँ जिससे कभी लोग यह न कह सकें कि "बाबूजी बहुत कुछ ऐसे ही हाँक गये।" उनकी खोज का भेद यह है कि आध्यात्मिक-यात्रा में कहीं भी कोई बिन्दु (Point) न छूट जाये। "मालिक" की दिव्य गतियों की खोज के फलस्वरूप मैंने पाया कि । A, B, C, D की पढ़ाई का नम्बर तो बहुत देर में आता है जब कि पिंड देश के प्रथम पाँचों बिन्दु, जिनसे भौतिक शरीर बना है, की यात्रा से हम अपनी आध्यात्मिक-यात्रा का आरम्भ करते हैं। फिर पिंड-देश को यात्रा को पूर्ण करके ब्रह्माण्ड देश या मण्डल की यात्रा में प्रवेश पा जाते हैं। श्री बाबूजी महाराज की पावन-प्राणाहुति का संबल पाते हुए इस यात्रा को पूर्ण करके पार ब्रह्माण्ड मण्डल के क्षेत्र में यात्रा आरम्भ कर देते हैं। इन दोनों मण्डलों की यात्रा में मैंने एक विशेष बात यह पाई कि धरती पर होने वाली हर प्राकृतिक घटना का पता मुझे जरूर लगता था। चाहे कहीं ज्वालामुखी फटना हो, कहीं बाढ़ आनी हो, कहीं ट्रेन का ऐक्सिडेंट होना हो सभी कुछ मेरी दृष्टि के समक्ष

आ जाता था किन्तु मानो वीतराग हुए सब कुछ पार करती हुई गति आगे को ही अग्रसर होती थी। इस यात्रा में गति इतनी तीव्र होती जाती है कि जब एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में पहुँचने पर दूरी दुगनी होती जाती है, तो यह गति समय की दूरी को नहीं लगने देती। अब आता है "इब्द" (प्रपन्न गति) की हालत का क्षेत्र, मानो प्रेम का खजाना हो। प्रेम में मग्न हुए, झूमते हुए यात्रा कब पूर्ण हो गयी पता ही नहीं चलता। जब श्री बाबू जी महाराज हमें "मोविद" (प्रभु गति) की दशा में प्रवेश देते हैं तो यात्रा पूर्ण हो जाने का पता चलता है और हम इस मोविद क्षेत्र यात्रा को प्रारम्भ कर देते हैं। इससे आगे आने वाला क्षेत्र मानो भाईचारा निबाह रहा हो, सो वह शीघ्र हमें अपने क्षेत्र "मोविद उल-इबाद" (प्रपन्न प्रभु गति) में खींच लेता है। श्री बाबूजी का संकेत होता है और यात्रा प्रारम्भ हो जाती है इस देश की। इस यात्रा के पश्चात् नाम का हवाला न होने के कारण श्री बाबूजी ने अब ए, बी, सी, डी, की यात्रा प्रारम्भ करवाई। बिन्दुओं की यात्रा में मैंने एक विचित्र बात पाई कि हर बिन्दु की दशा सूक्ष्म से सूक्ष्म थी और मध्य का फैलाव दुगुना-चौगुना था। इस प्रकार श्री बाबूजी ने "ए" से लेकर "जेड" तक गिना फिर दुबारा ए से लेकर जेड तक गिना। इन बिन्दुओं के फैलाव की यात्रा पूर्ण होने तक अहं के सोलह वृत्त अर्थात् सूक्ष्म अहं की सीमा से भी पार निकाल दिया। हृदय-मण्डल की यात्रा समाप्त हो गयी। मनोमंडल की यात्रा प्रारम्भ होने पर "हिरण्यगर्भ" का विस्तार समक्ष में व्याप्त था। ऐसा लगता था कि यह सृष्टि मेरी ही बनाई हुई है। सूर्य-चन्द्र सब मेरे ही प्रकाश से प्रकाशित हैं,

इत्यादि। मनोमंडल पार कर जाने के बाद केन्द्र मंडल में श्री बाबूजी ने प्रवेश दिया तो लगा मानो यही मेरा देश है और अपने देश की यात्रा का क्या कहना। तब लगा कि "सहज-समाधि" में निगेशन (न होने का भाव) की दशा तिलमिला उठी हो। मानो अब केवल आइडेन्टिटी ही रहना चाहती है। तो फिर इस दशा का विवरण दे पाने में शब्द साथ नहीं दे सके, आइडेन्टिटी ने ही साथ दिया। किन्तु इतना ही नहीं आगे जब आइडेन्टिटी की भी विस्मृत-अवस्था रहने लगी तो लगा कि दिव्य-अवस्था में मानों अपनी आइडेन्टिटी का आधार भी लय होने लगा। अब अपने श्री बाबूजी का महत्-संकल्प कि लोग अंतिम-सत्य "भूमा" तक पहुँचें, का आधार मिल गया। मानो यह आइडेन्टिटी का प्रमाण भर रह गया हो। अब कहिए, शेष का भी कोई शेष हो सकता है? अन्त का भी कोई अन्त हो सकता है? तब रह जाती है "अल्टीमेट" की परिक्रमा, जहाँ गतिविहीन गति में पैराव शुरु हो जाता है। श्री बाबूजी का कथन कि "निगेशन का निगेशन" हो जाता है, स्पष्ट हो जाता है।

अन्त में संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि हृदय-मंडल में लक्ष्य को पाने की फिक्र बनी रहती है, मनोमंडल में शक्ति और दृढ़ता रहती है कि लक्ष्य अवश्य मिलेगा, तथा केन्द्र मंडल होता है प्राप्ति का स्थान, जहाँ शाश्वत-शान्ति और अपूर्व क्षमता का प्रतीक बन जाता है अभ्यासी और अब अन्त हो जाता है "अन्तिम-सत्य" के अध्याय का।

उपसंहार

जब मैंने अपनी प्रथम पुस्तक 'दिव्य देश का दर्शन, सहज मार्ग के दर्पण में' का उपसंहार लिखा था तो लगा कि आध्यात्मिकता मानो एक अंत तक पहुँच गई है- कदाचित् ही कभी कुछ और लिखा जा सके। आज श्री रामचन्द्र मिशन के जन्मदाता एवं सहज-मार्ग पद्धति के प्रणेता श्री बाबूजी महाराज पुनः यह घड़ी ले आए हैं जो आपके समक्ष अपनी दूसरी पुस्तक 'साक्षात्कार से अन्तिम सत्य तक' का उपसंहार उपहार रूप में रख रही हूँ। इसका प्रथम अध्याय है 'साक्षात्कार'। मानव-जीवन का ध्येय ईश्वर का साक्षात्कार हो जाने पर पूर्ण हो जाता है किन्तु साक्षात्कार की पूर्णता प्रदान करने के लिए ही 'सद्गुरु' का प्राकट्य पृथ्वी पर होता है। जब ईश्वर की प्रकृति अर्थात् नेचर में धरती के ठोस हुए स्पन्दन यह पुकार करते हैं कि धरती अब ठोसता से बोझिल हो चुकी है, मानव के संकुचित बौनेपन ने उसके विचारों को, हृदय एवं मस्तिष्क को इतना ठोस बना दिया है कि पृथ्वी अब उसको ईश्वर की श्रेष्ठ कृति नहीं बल्कि अपने ऊपर बोझ की संज्ञा दे उठी है, सूक्ष्म, सहज एवं पावन स्पन्दन का मानो पूर्णतया ह्रास हो चुका है एवं मानव-स्वभाव, स्वभावतः ही सहजता से हट कर स्वयं की एक पृथक् प्रकृति का निर्माण कर चुका है। ऐसे ही समय मानव की प्रकृति में पुनः सहजता की पवित्रता लाने के लिए, विचारों के संकुचितपन को दूर करके सहज, सुखद, हल्कापन भर देने के लिए एवं वातावरण की ठोसता को धोकर सरल एवं सरस बना देने के

लिए ही समर्थ सद्गुरु श्री बाबूजी महाराज का पृथ्वी पर प्रादुर्भाव हुआ। पुस्तक का दूसरा अध्याय 'सद्गुरु' सद्गुरु के ही गौरव एवं गरिमा का सहज द्योतक है। सहज इसलिए है कि आध्यात्मिक क्षेत्र में सद्गुरु श्री बाबूजी महाराज की ममत्व भरी निगाह में पलते हुए, उनके संकल्प की श्रेष्ठतम दिव्य शक्ति का सशक्त सम्बल पाकर विकसित होते हुए, हम आत्मिक विकास से विकसित होकर दिव्य-विकास में लय हो जाते हैं। सद्गुरु द्वारा पाई प्राणाहुति के पालने में झूलती हुई आत्मा मानो परमात्मा रूपी जननी की गोद में कुछ इस तरह मुख छिपा लेती है कि केवल साक्षात्कार की दशा ही नहीं बल्कि ईश्वर-प्राप्ति का सौभाग्य भी हमें प्रदान कर देती है। आत्मिक विकास की यात्रा का अन्त होता है दिव्य-विकास। पुस्तक का तीसरा अध्याय 'आत्मिक विकास' की यात्रा से ही प्रारम्भ होता है और दिव्य विकास में पहुँच कर अपने आदि अर्थात् चिरंतन सहज गति में विलीन हो जाता है। पुस्तक का चौथा अध्याय 'सहज गति' का ही विवरण प्रस्तुत करता है। मानो अब सद्गुरु श्री बाबूजी महाराज ने हमारी असहज गति को दूर करके इसकी सहज गति को (जैसी रचना के समय थी) पुनः वापस ला दिया है। इसी दिव्य आनन्दातिरेक में झूम उठती है धरती की आत्मा और चरण-चुम्बन को झुक आता है आकाश। पावन एवं सशक्त हो उठता है इन दोनों के मध्य का वातावरण, जो आग़ाज है नई पीढ़ी को आध्यात्मिकता में ढाल देने का। यद्यपि यह बदलाव कितना ही समय ले ले, ऐसा हो कर ही रहेगा। इस बदलाव की पहल समय खुद करता है जिससे क्रमशः समय से बँधे प्राणी इसका प्रभाव लेते रहेंगे।

एक तथ्य की बात और है कि श्री बाबूजी की कृपा के अन्तर्गत अभ्यासी लक्ष्य तक अवश्य पहुँचेंगे, लेकिन 'मालिक' में लय होकर चलेंगे तो हर परम गति का आनन्द उठाते हुए, उन्हें हर गति व स्थान की यात्रा का सौभाग्य भी प्राप्त होता रहेगा। यात्रा का सहज, सुन्दर परिणाम होता है कि हर गति एवं स्थान पर एवं वहाँ की शक्ति पर आधिपत्य होता चले, जिसके द्वारा हम दूसरे भाइयों को यात्रा करवा सकने में समर्थ हो सकेंगे। वैसे तो 'उनकी' इच्छा-शक्ति हमें कहाँ से कहाँ की पहुँच दे सकती है, किन्तु इससे हमारी पहुँच तो हो जाएगी लेकिन वहाँ की भक्ति एवं शक्ति पर न तो आधिपत्य हो सकेगा और श्रेष्ठ एवं सूक्ष्म गति में रहनी पाना भी असम्भव सा ही होगा। इसलिए जो आज ईश्वरीय शक्ति की इच्छा में समेटे हुए परम शक्ति का मालिक होकर धरती पर उतरता है, उस परम व्यक्तित्व में लय होकर आध्यात्मिक यात्रा आरम्भ करें तो गुरु जैसी (Masterly) गति ही आती जाएगी। तभी श्री बाबूजी का यह कहना हम चरितार्थ कर पायेंगे कि "मैं शिष्य तैयार नहीं करता हूँ, मैं 'मालिक' तैयार करता हूँ" अर्थात् जितनी भी हमारी पहुँच है, हमें उस शक्ति पर आधिपत्य हो जाता है जैसे सत्य स्वयं प्रकाशित है, उसी प्रकार ऐसा अभ्यासी 'मालिक' के कार्य में और वातावरण में मानो स्वयं प्रकाशित रहता है जिससे लोग प्रतीत कर सकें कि श्री बाबूजी में मानव को केवल दिव्य मानव के रूप में बदल देने की क्षमता ही नहीं है वरन् ईश्वरीय गति में लय करके उसे उस परम शक्ति से भी सम्पन्न बना देने की क्षमता है। उनके कहे हुए कुछ ठोस एवं दिव्य प्रमाण हैं जिनका आधार दिव्य गतियाँ

हैं, शब्द नहीं और अन्त है साक्षात्कार। अन्त का अन्त होता है 'मिलन' अर्थात् स्वयं व ईश्वर में विलीन होने से। तब शेष वच रहती है आइडेन्टिटी, जिसके द्वारा श्री बाबूजी अपने संकल्प का आधार देकर हमें ले चलते हैं 'भूमा' के केन्द्र की यात्रा पर। मेरा प्रयास है कि उन दिव्य गतियों से भरे उनके कथन को, उनके द्वारा कराई हुई आध्यात्मिक क्षेत्र से दिव्य देश तक की यात्रा को अनुभूति रूपी पुष्पों के समान आप सबके समक्ष इस तरह बिखेर सकूँ कि आध्यात्मिकता की सुगन्ध से धरती का प्रांगण महक उठे।

उनके कथन का प्रारम्भ इस आत्मिक दशा से होता है कि 'Where Religion ends, Spirituality begins' अर्थात्, जब सहज मार्ग साधना द्वारा हम सद्गुरु में लय-अवस्था पा जाते हैं तब से जाति-पाँति का भेद समाप्त हो जाता है। ऊँच-नीच, छोटा-बड़ा, सबके लिए समान भाव रहने लगता है। एक सी ही भावना रहने लगती है। दृष्टि एवं विचार में गैरियत का भाव कभी आता ही नहीं और विचारों का स्तर कभी निम्न होता ही नहीं है, तभी 'मालिक' का यह कथन कि 'Where Religion ends Spirituality begins' उपर्युक्त हालत के रूप में चरितार्थ हो जाता है अर्थात् अहं के शारीरिक भाव से दशा ऊपर उठ जाती है। आगे आध्यात्मिक क्षेत्र में यात्रा करते हुए जब हालत इतनी सूक्ष्म हो जाती है कि अपनी ही दशा लिखने पर यह एहसास ही नहीं रहता है कि मैं अपनी दशा लिख रही हूँ, एवं आन्तरिक-आनन्द की अनुभूति हृदय में पाते हुए भी यह एहसास नहीं होता कि यह हृदय मेरा है, यह आनन्द

मुझे मिल रहा है, परन्तु आनन्द की खुमारी रहती है, तब श्री बाबूजी महाराज का यह कथन कि 'Where Spirituality ends, Reality begins' मानो अपनी हालत हममें उतार कर समक्ष में स्पष्ट होकर व्याप्त हो जाता है।

अब ईश्वर की असलियत की दशा भला क्या हो सकती है? क्योंकि यह तो असलियत है 'उसकी' (ईश्वर की) भी और स्वयं अपनी भी यह भला क्या बोलेगी परन्तु बोलवाने वाला यदि दिव्य-शक्ति का मालिक है तो इसे भी बोलना ही पड़ेगा चाहे यह अपनी असलियत को बोले अथवा 'मालिक' के विषय में बताये कि कैसे इन्होंने इस असलियत को खोल दिया है समस्त के लिए और इस लेखनी को आज्ञा दी है इसके विषय में लिखने के लिए। इस दशा के आरम्भ होने पर लगता है कि जो कुछ समक्ष में देख रही हूँ वह केवल असलियत का पसारा है। इतना ही नहीं मानों किसी की अनोखी शान का पसारा है। अन्तर की अनुभूति बोलती है कि अब असलियत ही असलियत है। लिखने पर दशा का अंदाज यही बताता है कि मानो अब दशा नहीं लिख रही हूँ बल्कि दशा की ही असलियत लिख रही हूँ। ऐसा लगता था कि मानो दशा और इसकी वजह जो अब तक समानान्तर (Side by Side) चल रहे थे, अपने अलगाव को समाप्त करके अपनी वजह अथवा असलियत में ही लय हो गई है। दशा और वजह के एक हो जाने पर अपरिमित दिव्य आनन्द में मगन अभ्यासी अपने होने (अस्तित्व) का होश भी गँवा बैठता है। ऐसा लगता है कि मानो मैं ही वजह थी और परमानन्दातिरेक में झूमता हुआ अन्तर 'मालिक' का

कथन दोहरा उठता है कि 'Where Reality ends Bliss begins' हम गरीबों पर जो ये अनुपम ममत्व भरा अपनत्व जो दशाओं के रूप में उतार रहे हैं यह प्रियतम मालिक श्री बाबूजी के अलावा कौन कर सकेगा? 'Bliss begins' कौन इस प्राप्ति का स्वप्न भी देख पाता?

इतना ही नहीं, अनुभूति बोलती है कि और आगे बढ़ कर देख, जहाँ ऐसी दशा व्याप्त है कि उस परमानन्द का भोक्ता अब हम अपने को नहीं पाते हैं। लगता है कि क्या है यह परमानन्द और कौन है इसका भोक्ता? भोगने वाले का पता ही नहीं मिल पाता है। तब हर समय मानो अब 'कुछ नहीं' है, यह अहसास ही व्याप्त हो जाता है। फिर कहाँ से अपने 'बाबूजी' का मधुर, किन्तु मौन स्वर हृदय में बोल उठता है कि 'Where Bliss ends, that is the goal (God)'। कदाचित कबीर की वाणी ने आध्यात्मिक गति की इस दिव्य एवं चरम सीमा (ईश्वर का साक्षात्कार) को छुआ था तभी अपनी भाषा में उन्होंने कहा है कि 'एक-एक में कहा विचार, जहाँ मिलौनी तहाँ विचार' अर्थात् जब हम एक हो गए तो फिर क्या है, कुछ नहीं, कोई विचार नहीं। न वियोग की व्यथा मन को छूती है, न मिलन का परमानन्द हमें विभोर कर पाता है। शाश्वत-शान्ति में विलीन हो जाता है मन।

परिणामस्वरूप अब प्रारम्भ होता है अनन्त की यात्रा का क्षेत्र जिसमें प्रवेश पाकर श्री बाबूजी महाराज द्वारा लिखित पुस्तिका 'अनन्त की ओर' में इंगित दशायें समाप्त होती जाती हैं और आइडेन्टिटी की 'मालिक' के महत् संकल्प में लय हो कर 'भूमा'

तक पहुँचने की तैयारी हो जाती है अर्थात् अब 'अनन्त की ओर' का संकेत नहीं बल्कि अनन्त की अर्थात् अन्तिम सत्य की यात्रा आरम्भ होती है।

अब भला कैसे लिखे लेखनी उपसंहार। अन्तिम-सत्य के केन्द्र की अनन्त यात्रा का परम सौभाग्य आज श्री बाबूजी के दिव्य-शुभागमन ने ही प्राणिमात्र को प्रदान किया है। जिनकी वन्दना में केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि श्री रामचन्द्र मिशन का सहज-मार्ग ही जिनके पावन-चरण हैं, हृदय साक्षात्कार है, एवं शीश है 'अन्तिम-सत्य'। इन कुल की अनुभूति है श्री बाबूजी महाराज का दिव्य-साक्षात्कार, जो हमें अन्तिम सत्य की गोद प्रदान करता है।

अन्त में मेरा केवल इतना ही कहना है कि प्रिय पाठक गण, सहज मार्ग में श्री बाबूजी की कृपा के इस दिव्य प्रसाद को सहेज कर लाभान्वित होने में समर्थ हों।

●